।। श्री ज्ञानेश्वर माऊली ।।

श्री गीता ज्ञानेश्वरी

श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी

अध्याय दुसरा (हिन्दी)

पूर्वार्ध

सांख्य-योग

प. पू. गोविंद महाराज उपळेकर

॥ श्री ज्ञानेश्वर माऊली ॥

श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी

अध्याय दुसरा (हिन्दी)

पूर्वार्ध

सांख्य-योग

अनुवादक :
श्री म. दा. बरसावडे एम्. ए.
फ ल ट ण

प. पू. गोविंद महाराज
उपळेकर
फलटण

मुद्रक :

श्रीकृपा मुद्रणालय,

३-४-३०६ लिंगमपल्ली,

हैद्राबाद-५०००२७.
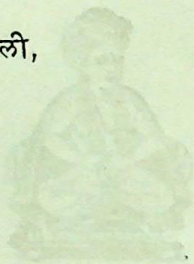
गोकुलाष्टमी

शके १८९८

प्रकाशक :

द. रा. बेंद्रकर

सेक्रेटरी,

प. पू. गोविंद महाराज

उपळेकर साहित्य संस्था

१३३० सदाशिवपेठ, पुणे ४११०३०.

" हे सांख्यस्थिति संकळित । सांगितली तुज येथ ।। "

श्री जगज्जीवन

ज्ञानेश्वर माऊली के

चरण-कमलों में

सविनय

समर्पित

गोविंद

प्रास्ताविक

श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के द्वितीय अध्याय का पूर्वार्ध हिन्दी में प्रस्तुत करते हुए मुझे परम समाधान है। पू० काका महाराज इस अध्याय के संदर्भ में अत्यधिक उत्सुक थे। आपने मुझ बार बार काम पूरा करने के लिए कहा था। उनके द्वारा सूचित निश्चित अवधि के भीतर मुझसे अनुवाद पूरा नहीं हो सका। इस अनुवाद की मुद्रित प्रति आप देख नहीं सके। मेरे लिये यह अत्यन्त दुःखद बात है कि संदर्भ में मुझसे आपकी अवज्ञा हुई। अब तो बार बार क्षमाप्रार्थी हूँ। आप उदार हृदय थे, आशा है मुझे क्षमा करेंगे। पूर्वार्ध की पाण्डुलिपी का कुछ भाग आपने देखा था और वे सचमुच उसपर प्रसन्न थे। उनकी प्रसन्नता परम पावन कृपा है जो मैं अनुभव कर रहा हूँ। 'सुबोधिनी' के चतुर्थ तथा पंचम अध्याय के हिंदी अनुवाद को केंद्रीय हिंदी निर्देशालय (शिक्षा तथा समाजकल्याण मंत्रालय, भारत सरकार) की ओर से रु. १५००/– का पुरस्कार घोषित हुआ है। 'सुबोधिनी' की विद्वत्मान्यता पहले ही प्राप्त थी, अब राजमान्यता भी। ऐसा शुभ अवसर है किंतु पू० काकामहाराज प्रोत्साहन देने के लिए पहले जैसे देहधारी नहीं रहे। उनकी तीव्र याद आती है और मन व्याकुल हो जाता है।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।

आत्मसत्ता का अमरत्व द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है। यहाँ आत्मज्ञान की पुष्टी अभिप्रेत है। आत्मा की जानकारी उपयुक्त नहीं, उसका साक्षात्कार आवश्यक है, वही ज्ञान है। न आत्मा की मृत्यु होती है, न देह की शाश्वत सत्ता है। जो मूलत: असत् है उसके नष्ट होने में शोक करना युक्तिसंगत नहीं। केवल बुद्धिगम्य ज्ञान कुछ असर नहीं कर सकता। हृदय की गहरी तह तक जो पहुँच कर समूचे जीवन में क्रांति निर्माण करेगा, वह ज्ञान कूटस्थ आत्मा का ही है। यह अनुभव किया जाता है कि प्रत्येक जीव को मौत का डर है। परमार्थ का प्रसाद सर्वथा निर्भय बनाता है। अमृतत्व का यही मार्ग है। जो आत्मवान् है, वही मृत्यु को पार कर सकता है। उसके संपूर्ण जीवन में न सुख का उल्हास है न दुख का उद्वेग। वहाँ समत्व सिद्ध रहता है। इस प्रकार के पहुँचे हुए साधुओं में पू० काकामहाराज अग्रगण्य थे। वे मरकर भी अमर हुए हैं। उनके निर्वाण पर दुख होना स्वाभाविक है क्योंकि उनका चाक्षुष दर्शन पहले जैसा असंभव है। उनकी सत्ता आज भी अक्षुण्ण है, उसका अनुभव किया जा सकता है, केवल श्रद्धा चाहिए।

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

पू० काका महाराज का जन्म फलटण में ही १५-१-१८८८ ई० में हुआ। आप के पिताजी यहाँ वकालत करते थे। माता

का नाम जानकी था। पू० काकाजी की शिक्षा-दीक्षा यहीं सुधोजी हाइस्कूल में, और बादमें नू. म. वि. हाइस्कूल, पूना में हुई। पूना के बी. जे. मेडिकल स्कूल से आपने L.C.P.S. की परीक्षा प्राप्त की। १९१३ ई० में उनकी शादी हो गयी और १९१४ में आप कमिशंड अफसर के नाते सेना में दाखिल हुए। नैरोबी, रावलपिंडी आदि जगह पर रुग्ण सैनिकों की सेवा करते रहे। उनकी उत्कृष्ट सेवा के कारण सरकार की ओरसे उन्हें २ सुवर्णपदक तथा ३ रौप्यपदक भी प्राप्त हुए थे। इस प्रकार आप अपनी प्रारंभिक आयु में घर गृहस्थी में रमे हुए गृहस्थ थे। कमिशंड अफसर के नाते काम करते समय आपने युद्ध की भीषणता का तथा जीवन की क्षणभंगुरता का अनुभव किया होगा। इसी कारण उनका मन अंतर्मुख हो गया।

१९२० ई. में अपनी सेवा से कुछ काल तक अवकाश लेकर पू० काकाजी फलटण पधारे। उस समय सातारा जिले के खटाव तहसील के अंतर्गत पुसेसांवली गाँव में कृष्णदेव नामक परमहंस योगी रहते थे। यह महात्मा विदेही अवस्था में जीवन मुक्ति का आनंद अनुभव करते रहे थे। खाने, पीनेकी, कपडे की भी सुध नहीं थी। इच्छा हुई तो बोलते थे। वैसे तो ये सचमुच अनपढ थे किंतु वेदों द्वारा प्रतिपादित 'अक्षर' को उन्होंने अपनाया था। आपकी प्रेरणा से फलटण के इंजिनिअर श्रीमान् गोविंदरावजी रानडे के साथ पू० काकाजी पुसेसांवली गये। श्रीकृष्णदेवजी ने केवल उनकी ओर देखा और काकाजी ने अननुभूत प्रेमसे अपने को परिपूर्ण पाया।

उनके मनमें कृष्णदेवजी के प्रति सच्ची भक्ति निर्माण हुई। प्रगाढ विश्वास के साथ काकाजी ने गुरुसेवा आरंभ की। नौकरी का इस्तिफा दिया और वहीं रहना तय किया। घर के लोगों को यह घटना पसन्द नहीं थी। वे सब वहीं आये, काकाजी को समझाया, बुझाया, धमकाया किंतु कुछ उपयोग नहीं हुआ। आखिर में उन्हें बाँधकर घर ले आये। पर उनके मनपर विराग छाया था। घरगृहस्थी के झँझट में नहीं पडे। वे फिरसे पुसेसाँवली गये और सेवा में तन मन धन से लगे रहे। अपनी अचल निष्ठा का परिचय देते रहे। साढे तीन वर्षों की सेवा के फलस्वरूप पू० काकाजी श्रीकृष्ण देव के कृपाभाजन हो गये। आध्यात्मिक संक्रमण का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। स्वानंद साम्राज्य का चक्रवर्ति पद प्राप्त हुआ। "मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?"। पू० काकाजी फिर अपने में ही मस्त रहकर कई साल भारतभर परिक्रमा करते रहे। १९३३–३४ इ. में आप फलटण लौटे और अपनी कृपा के द्वारा हजारो साधकों को प्रेरणा देते रहे, मार्गदर्शन करते रहे।

" स्थितप्रज्ञस्य का भाषा– "

पू० काकाजी का जीवन स्थितप्रज्ञ का आदर्श था। अपने जीवन में उन्होंने किसीसे भी कटुता का बर्ताव नहीं किया। अतीव आत्मीयता से वे सभीसे बर्ताव करते थे, फिर चाहे बच्चा भी क्यों न हो ? किसी भी प्रकार का लोभ उन्हें छुआ तक नहीं। मत्सर की बात तो दूर ही रही। "अनपेक्षः

शुचिर्दक्ष: संतुष्टो येनकेनचित् '' इस गीतावचन को अन्वर्थक करनेवाला उनका जीवन था। वे अत्यंत सादगी से रहते थे। भक्त जनों ने दी हुई चीजें वे तत्काल बांटते थे। अपने प्रसन्न हास्य की आभा से समूचा वातावरण प्रसन्न कर देते थे। केवल अपनी कृपा दृष्टि से साधकों की मनोकामनाएँ पूरी कर देते थे। उनके पास किसी भी प्रकार का आडंबर नहीं था। पूजा पाठ में भी दीर्घकाल नहीं लगे रहते। बैठे बैठे अपने में लीन होकर दूसरों को अन्तर्मुख कराते थे। बोलना तो अत्यंत मधुर, कभी अस्फुट किंतु आर्तों को वह शब्द अमृत के समान हो जाता था, उससे आश्वस्त होते थे। अपने आप प्रेरणा प्राप्त होती थी। किसी भी प्रकार के चमत्कारों के झंझट में कभी नहीं पड़े रहे। संसार में आज साधुओं की कमी नहीं, किंतु साधुता की कमी है। साधुता का सच्चा साक्षात्कार करानेवाली वह विभूति थी।

रसिकत्वीं परतत्त्व स्पर्शु ऐसा

साहित्य के क्षेत्र में आत्मनिष्ठा सम्मानित होती है। आत्मनिष्ठा के द्वारा प्रकटित साहित्य में सच्ची तन्मयता, जीवन के प्रति गहरी निष्ठा तथा जीवन के बौद्धिक और भावनिक स्तरों पर नयी दृष्टि लक्षित होती है। कलाकार जीवन के बारे में अपना विशिष्ट दर्शन समग्रता से प्रकट करता है। श्रेष्ठ कला का यह आदर्श सर्वमान्य है। श्री ज्ञानदेवजी भी इसी विचार को प्रमाणित करते हैं किंतु साथही साथ उनकी आत्मनिष्ठा केवल जीवनलक्षी नहीं, आत्मलक्षी है। जब

तक परतत्त्व स्पर्श नहीं तब तक कला का चरमोत्कर्ष नहीं। कला न केवल सुन्दर होनी चाहिये, उसमें शिवत्व का तथा सत्य का साक्षात्कार होना चाहिये। परतत्त्व का पारस स्पर्श लोहे को स्वर्णमय कराता है, जीवन की तह तक पहुँचाता है। कबीर के प्रातिभ दर्शन में यह अनूठा चमत्कार इसी कारण हो सका, अन्यथा 'मसि कागज छुयो नहीं, कलम गह्यो नहीं हाथ' ऐसी अवस्था मे वे 'अक्षर' कृति निर्माण करने में असमर्थ थे। आत्मनिष्ठा इस स्थिति में समूचे जीवन को समग्रता से दिखाती है, सभी समस्याओं को समझाती है, प्रत्येक अनुभव को गहरी सहानुभूति से देखती है। अत: संतसाहित्य जीवन की कठिनाइयों में सहाय्यक है, पारमार्थिक क्षेत्र में मार्गदर्शक है।

श्री ज्ञानेश्वरी सचमुच असामान्य ग्रन्थ है। काव्य तथा तत्त्वज्ञान का अपूर्व संगम इस ग्रन्थ में है। "रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे।" ऐसा रससिक्त आविष्कार अन्यत्र नहीं पाया जाता। पू० काका महाराज ने परतत्त्व स्पर्श से पुनीत होकर श्री ज्ञानेश्वरी के वाग्विलास का अमृत "सुबोधिनी" के सुवर्ण पात्र से हमें पिलाया है। यह तो एक अतिविस्तृत टीका है। निगूढ भावसंगीत का रससिक्त आविष्कार यहाँ भी है। कुछ हद तक यह समझने में कठीन है, किंतु एक बार उससे परिचय होने पर वह सचमुच सुबोध हो जाती है। यह मन्त्रसिद्ध, परतत्त्वस्पर्शी 'सुबोधिनी' साधकों की माता बन जाती है और आध्यात्मिक संक्रमण का दूध पिलाती है।

'सुबोधिनी' के अलावा पू० काकाजी के 'ज्योति ज्योति',

'प्रास्ताविक', 'आमोद' इ० ग्रन्थ हैं। वे अपनी गूढ शैली के कारण दुर्बोध बन पड़े हैं। अपने निगूढ अनुभवों को व्यक्त करने के लिये उन ग्रन्थों की रचना हुई है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'–उस अनुभव को अभिव्यक्त करते समय अपरिचित दुर्बोध प्रतिकों का प्रयोग होता है। आजकल के नवकवि भी कुछ ऐसी गूढ शैली प्रयुक्त करते हैं। आगे चलकर काकाजी ने हरिपाठ सांगाति, ज्ञानेश्वर प्रशस्ति, सिद्धान्त ज्ञानेश्वरी आदि संकलनात्मक ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों के द्वारा साधकों के मन में आध्यात्मिक प्रेरणा जागृत हुई, ज्ञानेश्वरी के प्रति अभिरुचि प्रकट हुई। अपने पूज्यतम सद्‌गुरु का–कृष्णदेव का–स्तवन पू० काकाजी ने उनकी जीवनी लिखकर किया है। उनके चरित्र की विशेषताओं को प्रकट करते हुए आप ने पारमार्थिक गहन विषयों का भी मंथन इसमें किया है। फलटण के महान संत योगीराज श्री हरिबाबा की जीवन लीला वर्णन करने के लिए आपने "विभूति" लिखी। पू० काकाजी का यह संपूर्ण सारस्वत अपनी आत्मनिष्ठा के कारण अपूर्वता तथा श्रेष्ठता प्राप्त कर चुका है।

परोपकाराय सतां विभूतयः।

पू० काकामहाराज लगभग चालीस साल तक अपना जीवन परोपकारार्थ बिताते रहे। सत्ता, संपत्ति, वैभव, संप्रदाय, पीठस्थापना आदिसे कोसों दूर रहकर निरपेक्ष भावसे जीवन यापन करते हुए, उन्होंने बंबई से हैद्राबाद तक तथा बंगलोर से

दिल्ली तक के हजारों साधकों पर अनुग्रह किया। अनेकों ने उनकी कृपा के कारण अपने जीवन को सफल किया। कृतार्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए वे प्रत्येक व्यक्ति से कह देते थे कि "तुम मनुष्य हो, परमार्थ प्राप्ति के लिए यह पर्याप्त है।" मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता का परिचय इस प्रकार देते रहे। आपके वास्तव्य के कारण फलटण को धर्मपीठ की महत्ता प्राप्त हुई। ८-१०-१९७४ को मंगलवार के दिन अत्यन्त शांत से उनकी आत्मा नश्वर देह को छोड़कर विराट देह प्राप्त कर चुकी। आज उस जगह सुन्दर मन्दीर बांधा गया है जो पहले की तरह अनेकों को पू० काकाजी की भक्ति की प्रेरणा दिलाता है। कर्मकांड, आडंबर, लोभ, मोह तथा दंभ से दूर रह कर समर्पित जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए पू० काका महाराज रामभक्ति में रँग गये थे। अब तो रामरूप हो गये हैं। महात्मा कबीर के शब्दों में यों कह सकते हैं कि—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय।।

'नीलप्रभा'
कसबा पेठ,
फलटण (सातारा)

— म. दा. बरसावडे
१–५–१९७६

— ❁ —

श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय ३, ४ तथा ५

लेखक : प. पू. गोविंदमहाराज उपळाईकर, फलटण

अनुवादक : म. दा. बरसावडे, एम. ए. 'नीलप्रभा'
कसबापेठ. फलटण, (सातारा)

कुछ सम्मतियाँ

(१) डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय, M. A. (Sansk), M. A. (Hindi), Ph. D (हैद्राबाद)

........तृतीय अध्याय का मराठी भाष्य डॉ. गो. रा. उपळाईकरजी ने किया है, इससे ज्ञानेश्वर का रहस्य मुखर हो गया है। उपळाईकरजी के ज्ञानेश्वरी भाष्य का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर के श्री. म. दा. बरसावडेजी ने हिन्दी भाषी जनता का बडा उपकार किया है।

(२) वाराणसी राममूर्ति रेणू, एम्. ए, (हैद्राबाद)।

........श्री ज्ञानेश्वरी का विवरण सहित अनुवाद राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत करके भाई श्री. म. दा. बरसावडे ने स्तुत्य कार्य किया है। सन्त प्रवर श्री ज्ञानेश्वरजी का हृदय जानने में श्री उपळाईकरजी को अत्यधिक सफलता मिली है और उसका सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत करने में श्री बरसावडे भी सफल हुए हैं।

(३) डॉ. न. चि. जोगळेकर, M. A. Ph. D., हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, (पूना)

........डॉ. उपळाईकर जी के सात्विक विचारों को हृदयंगम करते हुए श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अ. ३ का सरल,

सुरस हिंदी अनुवाद श्री महादेव बरसावडे ने किया है। इसकी भाषा विद्वान हिंदी लेखक की ज्ञानेश्वरी में पैठ को सिद्ध कर देती है। अनुवादक का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार सिद्ध होता है।

(४) **प्रा. बलराम बनमाली**, M. Com. साहित्यरत्न,
गो. से. वाणिज्य महाविद्यालय, (वर्धा)

........डॉ. उपळाईकरजी ने ज्ञानेश्वरी का यह हिस्सा बडी सरलता एवं अर्थपूर्ण पद्धति से समझाया है। उनके भावों को हिन्दी में प्रकट करने का श्री बरसावडेजी का प्रयत्न काफी अच्छा है। भाषा एवं भावों की दृष्टि से अनुवाद उँचे दर्जे का है। शैली सरल एवं रोचक है।

(५) **डॉ. राजनारायण मौर्य**, M. A., Ph. D., हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, (पूना)

........हिन्दी भाषा में ज्ञानेश्वरी का यह अनुवाद बहुतही सुन्दर और सुव्यवस्थित हुआ है। अनुवाद में भी मूल की तरह मिठास है। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यह है कि अत्यंत सरल हिन्दी में अध्यात्म जैसे गूढ विषय को बडी सरलता से प्रस्तुत किया है। हिन्दी अनुवादक श्री बरसावडेजी ने मूल को सुरक्षित रखते हुए कहीं कहीं भावों और विचारों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निःसंदेह यह एक अनुपम कृति है।

(६) **डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री**, कुलपति,
जबलपूर विश्वविद्यालय, (जबलपूर)

........ज्ञानेश्वरी का महात्म्य सर्वविदित है। डॉ. उपळाईकर ने ज्ञानेश्वरी का दीर्घकालीन चिंतन और मनन किया

है एवं अन्तर्मुखी साधना से अनेक रत्नों को प्राप्त कर उन्होंने ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के रूप में जिज्ञासु जनों के हितार्थ प्रस्तुत किया है। हिन्दी भाषा में उनके क्रम को श्री बरसावडे ने प्रस्तुत करते हुये डॉ उपलाईकर की मूल भावनाओं की रक्षा की है और लेखक के मूल भावों को बडे सरल एवं सीधी भाषा में अनुवाद किया है।

(७) डॉ. चन्द्रधर शर्मा, एम् ए., डी. फिल्. डी. लिट्.,
जबलपुर विश्वविद्यालय, (जबलपूर)

........ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद श्री. बरसावडेजी ने किया है जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। अनुवाद सरल और सुन्दर है। जो गूढ आध्यात्मिक तत्वों को और भाव लालित्य को प्रकट करता है। इससे हिंदी जगत् की बडी सेवा हुई है क्यों कि इससे ज्ञानेश्वरी के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय जनसुलभ हो सके हैं।

(८) डॉ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रोफेसर, 'नवीन' शोधपीठ
अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, (उज्जैन)

........ज्ञानेश्वरी के तीन अध्यायों का (३, ४ तथा ५) हिंदी में भाषान्तर और उसके तीसरे अध्याय का संस्कृत में भाषान्तर। इसमें मुझे रंचमात्र संशय नहीं है कि जैसा भाषांतर लेखक ने किया है वैसा किसी हिंदीवाले या संस्कृत-वाले के मान का नहीं था। हिन्दी भाषा ऐसी है कि उसे सभी सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं।

(९) डॉ बलदेव उपाध्याय, प्राध्यावकाश संचालक, अनुसंधान
संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, (वाराणसी)

........ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी व्याख्याया द्वावध्यायौ परिशील्य

नितरां प्रसीदति मे ममन्तरात्मा। कर्मयोगात्मकः तृतीयोऽध्यायः संस्कृते निबद्धो वर्तते, कर्मब्रह्मार्पणयोगाख्यः चतुर्थोऽध्यायः हिन्दी भाषया विरचितो विद्यते। ज्ञानेश्वरमहाराजानां सुतरां निगूढाया अलङ्कारचयचर्चिताया व्याख्याया भवदीया सुबोधिनी तात्पर्यबोधिका भूत्वा अन्वर्थनाम्नी विद्यते इति दृढेन विश्वासेन समुद्घोषयामि।

(१०) प्रो. सौ. नीला जोशीराव, एम्. ए, (नागपूर)

........श्री ज्ञानदेवांच्या वाग्यज्ञावर 'ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी' नामक सविस्तर व सुन्दर मराठी भाष्य डॉ. गो. रा. उपळाई-कर यांनी केले आहे. त्याच्या ३, ४ व ५ अध्यायांचा हिंदी अनुवाद श्री म. दा. बरसावडे जी यांनी केला आहे. या ग्रंथाचे वाचन म्हणजे 'कुमुद दलाचेनि ताटे। चंद्रकिरणे चोखटे' असे आरोगण आहे जितके सुन्दर बिंब तितकेच सुन्दर प्रतिबिंब 'भाषा पालटे काही। अर्थ वाया जात नाही।' हेंच खरे! भावार्थ दीपिकेतील भाव 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' या कोटीचे, त्यामुळे त्यांचा विस्तृत भावार्थ सांगताना भावना केसर कुस्करणार नाहीत इतक्या हळुवारपणे अनुवादकर्त्यांनी आपले कौशल्य या ग्रंथात प्रकट केले आहे. डॉ. उपळाईकर यांच्या व्यक्तिमत्वातून तर श्री ज्ञानदेवांचीच शांती पाझरते.

........एका अत्तराच्या कुपीतील अत्तर दुसऱ्या कुपीत ओतताना सुगंध वाऱ्यावर उडून जाऊ नये, यासाठी किती अवधान सांभाळावे लागते याचा आदर्श पाठ म्हणजेच श्री. बरसावडे यांचे हे अनुवादित ग्रन्थ!

— ॐ —

श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय ३, ४ तथा ५

लेखक : प. पू. गोविंदमहाराज उपळाईकर, फलटण

अनुवादक : म. दा. बरसावडे, एम. ए. 'नीलप्रभा'
कसबापेठ. फलटण, (सातारा)

कुछ सम्मतियाँ

(१) डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय, M. A (Sansk), M. A. (Hindi), Ph. D (हैद्राबाद)

........तृतीय अध्याय का मराठी भाष्य डॉ. गो. रा. उपळाईकरजी ने किया है, इससे ज्ञानेश्वर का रहस्य मुखर हो गया है। उपळाईकरजी के ज्ञानेश्वरी भाष्य का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर के श्री. म. दा. बरसावडेजी ने हिन्दी भाषी जनता का बडा उपकार किया है।

(२) वाराणसी राममूर्ति रेणू, एम्. ए, (हैद्राबाद)।

........श्री ज्ञानेश्वरी का विवरण सहित अनुवाद राष्ट्रभाषा मे प्रस्तुत करके भाई श्री. म. दा. बरसावडे ने स्तुत्य कार्य किया है। सन्त प्रवर श्री ज्ञानेश्वरजी का हृदय जानने में श्री उपळाईकरजी को अत्यधिक सफलता मिली है और उसका सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत करने में श्री बरसावडे भी सफल हुए हैं।

(३) डॉ. न. चि. जोगळेकर, M. A. Ph. D., हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, (पूना)

........डॉ. उपळाईकर जी के सात्विक विचारों को हृदयंगम करते हुए श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अ. ३ का सरल,

सुरस हिंदी अनुवाद श्री महादेव बरसावडे ने किया है। इसकी भाषा विद्वान हिंदी लेखक की ज्ञानेश्वरी मे पैठ को सिद्ध कर देती है। अनुवादक का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार सिद्ध होता है।

(४) **प्रा. बलराम बनमाली**, M Com. साहित्यरत्न,
गो. से. वाणिज्य महाविद्यालय, (वर्धा)

........डॉ. उपळाईकरजी ने ज्ञानेश्वरी का यह हिस्सा बडी सरलता एव अर्थ पूर्ण पद्धति से समझाया है। उनके भावों को हिन्दी में प्रकट करने का श्री बरसावडेजी का प्रयत्न काफी अच्छा है। भाषा एवं भावों की दृष्टि से अनुवाद उँचे दर्जे का है। शैली सरल एव रोचक है।

(५) **डॉ. राजनारायण मौर्य**, M A , Ph. D., हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, (पूना)

........हिन्दी भाषा में ज्ञानेश्वरी का यह अनुवाद बहुतही सुन्दर और सुव्यवस्थित हुआ है। अनुवाद में भी मूल की तरह मिठास है। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यह है कि अत्यंत सरल हिन्दी मे अध्यात्म जैसे गूढ विषय को बडी सरलता से प्रस्तुत किया है। हिन्दी अनुवादक श्री बरसावडेजी ने मूल को सुरक्षित रखते हुए कहीं कहीं भावों और विचारों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निःसंदेह यह एक अनुपम कृति है।

(६) **डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री**, कुलपति,
जबलपूर विश्वविद्यालय, (जबलपूर)

........ज्ञानेश्वरी का महात्म्य सर्वविदित है। डॉ. उपळाईकर ने ज्ञानेश्वरी का दीर्घकालीन चिंतन और मनन किया

है एवं अन्तर्मुखी साधना से अनेक रत्नों को प्राप्त कर उन्होंने ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के रूप में जिज्ञासु जनों के हितार्थ प्रस्तुत किया है। हिन्दी भाषा में उनके क्रम को श्री बरसावडे ने प्रस्तुत करते हुये डॉ. उपलाईकर की मूल भावनाओं की रक्षा की है और लेखक के मूल भावों को बडे सरल एवं सीधी भाषा में अनुवाद किया है।

(७) डॉ. चन्द्रधर शर्मा, एम्. ए., डी. फिल्. डी. लिट्.,
जबलपुर विश्वविद्यालय, (जबलपूर)

........ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद श्री. बरसावडेजी ने किया है जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। अनुवाद सरल और सुन्दर है। जो गूढ आध्यात्मिक तत्वों को और भाव लालित्य को प्रकट करता है। इससे हिंदी जगत् की बडी सेवा हुई है क्यों कि इससे ज्ञानेश्वरी के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय जनसुलभ हो सके हैं।

(८) डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रोफेसर, 'नवीन' शोधपीठ
अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, (उज्जैन)

........ज्ञानेश्वरी के तीन अध्यायों का (३, ४ तथा ५) हिंदी में भाषान्तर और उसके तीसरे अध्याय का संस्कृत में भाषान्तर। इसमें मुझे रंचमात्र संशय नही है कि जैसा भाषांतर लेखक ने किया है वैसा किसी हिंदीवाले या संस्कृतवाले के मान का नहीं था। हिन्दी भाषा ऐसी है कि उसे सभी सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं।

(९) डॉ. बलदेव उपाध्याय, प्राप्तावकाश संचालक, अनुसंधान
संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, (वाराणसी)

........ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी व्याख्याया द्वावध्यायौ परिशील्य

नितरां प्रसीदति मे ममन्तरात्मा । कर्मयोगात्मक: तृतीयोऽध्याय: संस्कृते निबद्धो वर्तते, कर्मब्रह्मार्पणयोगाख्य: चतुर्थोऽध्याय: हिन्दी भाषया विरचितो विद्यते । ज्ञानेश्वरमहाराजानां सुतरां निगूढाया अलङ्कारचयचर्चिताया व्याख्याया भवदीया सुबोधिनी तात्पर्यबोधिका भूत्वा अन्वर्थनाम्नी विद्यते इति दृढेन विश्वासेन समुद्घोषयामि ।

(१०) प्रो. सौ. नीला जोशीराव, एम्. ए., (नागपूर)

........श्री ज्ञानदेवांच्या वाग्यज्ञावर 'ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी' नामक सविस्तर व सुन्दर मराठी भाष्य डॉ. गो. रा. उपळाई-कर यानी केले आहे. त्याच्या ३, ४ व ५ अध्यायांचा हिंदी अनुवाद श्री म. दा. बरसावडे जी यांनी केला आहे. या ग्रंथाचे वाचन म्हणजे 'कुमुद दलाचेनि ताटे । चंद्रकिरणे चोखटे' असे आरोगण आहे जितके सुन्दर बिंब तितकेच सुन्दर प्रतिबिंब 'भाषा पालटे काही । अर्थ वाया जात नाही ।' हेंच खरे ! भावार्थ दीपिकेतील भाव 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' या कोटीचे, त्यामुळे त्यांचा विस्तृत भावार्थ सांगताना भावना केसर कुचंबणार नाहीत इतक्या हळुवारपणे अनुवादकर्त्याने आपले कौशल्य या ग्रंथात प्रकट केले आहे. डॉ. उपळाईकर यांच्या व्यक्तिमत्वातून तर श्री ज्ञानदेवांचीच शांती पाझरते.

........एका अत्तराच्या कुपीतील अत्तर दुसऱ्या कुपीत ओतताना सुगंध वाऱ्यावर उडून जाऊ नये, यासाठी किती अवधान सांभाळावे लागते याचा आदर्श पाठ म्हणजेच श्री. बरसावडे यांचे हे अनुवादित ग्रन्थ !

— ❁ —

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर – फलटण

।। श्री गणेशाय नमः ।।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी

।। सांख्ययोग-द्वितीयोऽध्यायः ।।

।। सिंहावलोकन ।।

ईश्वर की सत्ता सचमुच महान है। उसकी क्षमता अतुल है। ऐसा कोई नहीं है कि जो उसकी बराबरी कर सकेगा। अर्जुन का परम भाग्य है कि देवत्व उसपर प्रसन्न है। वह महान् शक्ति उसे देवता भाव से संपन्न कर रही है। उसकी महत्ता बढा रही है। श्री भगवान् उसे अपनाते रहे। उसको महत्ता प्रदान करते हुए भी आपने उसका पूरा योगक्षेम स्वीकार किया है। उसके कर्तृत्व का बोझ भी मानो अपने सिर लिया है। अर्जुनजी की जीवदशा अब तक तो पूर्णतया अपने शिव-स्वरूप को नहीं पहचान सकी। अतः श्री भगवान् तथा अर्जुन के मिलन में, जीवशिवैक्य में कुछ कुछ अलिप्तता रही है। एक ओर अर्जुन देवताभाव के समीप है, तो दूसरी ओर उसकी

सूक्ष्म अहंता नष्ट नहीं हुई। परिणाम स्वरूप यहां एक प्रकार बोझ ही पैदा हुआ है। एक प्रकार तनाव है क्यों कि यहाँ पूरा सामरस्य नहीं। ईश्वरेच्छा से भिन्न कुछ दूसरा ही संकेत अर्जुनजी के पृथक् व्यक्तित्व के कारण यहाँ स्पष्ट लक्षित होता है। अर्जुन जी की महत्ता ईश्वरी देन है। सचमुच महत्ता ही ईश्वरी है। अर्जुन जी उसे अपनी, निजी समझ रहे हैं। महत्ता के पीछे देवताभाव है और वह भगवान् की कृपा का ही परिणाम है। यह छोटी सी छोटी किंतु बडी बात समझना कठीन है। उसका अपना मन उदात्त है, उदार है। श्रीभगवान् की कृपा के कारण उसका व्यक्तिमत्व उस महान् स्वरूप को अपनाने लगा किंतु उसकी अहंता उसे अभिमानी तथा ममतापूर्ण बना रही है। वह अपने को महान् समझने लगा है। कर्म समर्पण की भावना या समर्पण की लीनता यहाँ उसके पास न होने से वह अपनी झूठी महत्ता को समझ नहीं सकता। व्यक्तित्व के महत्व में, अपनी निजी उदारता में वह उलझ रहा है। यह उपरी बडप्पन—व्याज स्तुति के समान उसके सत्स्वरूप के विरुद्ध है। जब जीव-शिवैक्य अनुभव किया जाता है, तब और कुछ नहीं रहता। जीव की निजी बात नहीं रहती। वह तो ईश्वर का अंकितसा होकर रह जाता है। वहां पूरा समर्पण है। नदी सागर में अलग नहीं रह सकती। उसकी पृथक् सत्ता संभव नहीं। किंतु मिलन में कुछ पृथकत्व रहा है। निजी उदारता के झंझट में श्री अर्जुन उलझ रहा है। देवता भाव का संकेत वह समझ नहीं सका। परिणाम स्वरूप उसकी यह कमी, उसकी अहंता का अंकुर, बडप्पन का बोझ एक

प्रकार उसके मनमें तनाव पैदा कर रहा है। कौरवों के संबंध मे अपनापा पैदा हो रहा है। उसका आधार कौरवों को ही प्राप्त सा हुआ।

अर्जुन जी का अंत:करण अत्यन्त सरल था। मन की स्वाभाविक उदारता उसके पास थी। जब ईश्वरत्व की भावना उसने अपनायी तब उसकी दयार्द्रता ओतप्रोत हो गयी। वह यह समझ बैठा कि इस युद्ध से हिंसा के सिवा और कुछ प्राप्त नहीं होगा। उसकी आत्मीयता कौरवों को भी उपयुक्त होनें लगी। कौरव भी अपने भाई हैं अत: राज्य लोभ के कारण उनकी हत्या करना अन्याय है। भ्रांतिजनित आत्मीयता के कारण दयाभाव का अनुचित शृंगार वह करने बैठा। दया सर्वथा ईश्वरी है। वह स्वयं देवताभाव के समीप जा रहा है। अत: कौरवों के बारे में भी उसके मनमें करुणा पैदा हुई। उसकी आँखें डबडबायीं। कण्ठ रुद्ध हो गया। उसका यह विचित्र प्रेम देखकर श्री भगवान् का भी अंत:करण करुणासे गीला हो गया। मातृहृदय में जो स्नेह है, उसकी परिपूर्णता श्री भगवान् के अंत:करण में है। श्री अर्जुन जी के प्रेम को देखकर श्री भगवान् के हृदय मे भी करुणापूर्ण स्नेह निर्माण हुआ। पार्थ की यह अवस्था अनवस्था में परिवर्तित न हो, इस लिये आप सचेत रहे। उसका स्नेह व्यामोह था। झूठी महत्ता के कारण दया थी। असली सत्ता तो ईश्वर की होती है। वह साधन मात्र था। किन्तु यह उससे पहचाना नहीं गया। उसका विषाद अनुचित, कृत्रिम था। उदार भावना,

कृपा, मनकी महत्ता आदि का उसपर जो अनुचित अहंतायुक्त परिणाम था वही उसे मोहित कर रहा था, व्याकूल बना रहा था। उदासी छा गयी थी। वह निःस्तब्ध होकर निष्क्रियता की दांभिक कल्पना बकने लगा।

श्री अर्जुनजी की वृत्ति कुछ कुछ 'अहं' से व्याप्त होने लगी। श्री भगवान की इच्छा कुछ और थी। विशाल सैन्य को देखकर अर्जुन के मन में एक प्रकार ग्लानी निर्माण हुई। अनवस्था प्रसंग निर्माण हुआ। वह न कुछ करना चाहता था, न कुछ देखना भी। वह अपने को इस संघर्ष से सर्वथा अलिप्त रखना चाहता था। जो कुछ हो रहा है, होने दे। स्वयं किसी प्रकार दखल देना उचित नहीं। मैं क्या कर सकता ? मुझे इस संघर्ष में किसी भी प्रकार महत्त्व नहीं। न लोभ है, न द्वेष। केवल उदासी थी। उसका विषाद हरघडी बढता जाता था। इस युद्ध में वह कुछ भी नहीं चाहता था। उसकी दृष्टि में यह संघर्ष अनुचित था। उसका जी भारी हो गया। अनुचित कर्म के संबंध में उसे तनिक भी आस्था न थी। वह मानो दूसरे ही रास्ते जा रहा हो। एक पथहीन पथिक की भाँति उसका मन चकित हो गया था, दंग रह गया था।

श्री भगवान् यह स्थिति समझ चुके थे। उसके विकल मन को, दुविधा को पहचानते हुए आपने उसे समझाना चाहा। उसे अपने अधीन करने की आपने ठानी। उसकी 'अहंता' को हटाना चाहा। अपने प्रेमपूर्ण शब्दों, वाक्यों द्वारा उसके मन को सुस्थित करने का निश्चय किया। आपके अमृतमधुर शब्द

परिणामकारी थे। शब्द अर्थ का धारक तथा वाहक है। श्री भगवान् के शब्द झूठे नहीं हो सकते। उन्हें अपनी सत्ता है, सिद्धि है। नामस्मरण करने से भी वह प्रभु पाया जाता है फिर उस के शब्दों का सामर्थ्य क्या वर्णन करने योग्य है ? आपकी मन्त्रमयी वाणी श्री अर्जुन के अंत:स्तल में प्रवेश कर सकी। श्री भगवान का नाम या उसकी वाणी दोनों में अपार सामर्थ्य छिपा हुआ है। अर्जुनजी की व्याकुल वृत्ति को कुछ सम्मानित करते हुए आपने कहा–"हे धनंजय, यह क्या हो रहा है ? तुम शूर वीर क्षत्रिय पुरुष हो। स्त्री के समान कायर तो नहीं ? फिर पीछे पीछे क्यों ? जीवन की चरम सफलता पुरुषार्थ में है, पराक्रम में है, पौरुष में है। अपने जीवन की यशोध्वजा फहराते रहो। कायर मत बनो। इस भव व्यथा को पार करने का एक मात्र उपाय है पुरुषार्थ। तुम इस प्रकार बर्ताव करोगे तो फिर परलोक का यश सर्वथा अपयश में परिवर्तित होगा। न इस लोक में कीर्ति होगी न परलोक का यश। तुम्हारा कायरपन तुम्हें दूर करना ही होगा। अपनेही पौरुष से यह सुयश प्राप्त कराना होगा। तुम्हारा क्षत्रियत्व, वीरत्व तथा पौरुष आज सर्वथा नष्ट हुआ सा दीख पडता है। हे अर्जुन ! तुम अपना स्वत्व अपना धर्म मत छोडो। स्वधर्म का परित्याग, अपने स्वत्व को खो जाना, पौरुषहीन होकर बैठना यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुझे संघर्ष करना ही होगा। न्याय के पथपर, स्वत्व की सिद्धि के लिये, इहपर का सुयश पाने के लिये युद्ध करना सर्वथा आवश्यक है, नहीं अटल है। अगर तुम चुप रहोगे तो अपने स्वधर्म की हानि के कारण केवल दु:ख को

ही प्राप्त करोगे। अत: मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे ठीक ठीक सुनो। उसका ही अनुसरण करो। सचेत हो जाओ। व्यामोह के कारण अनुचित करुणा ने तेरा पौरुष नष्ट सा हुआ है। तेरी बुद्धि भी अंधी हो गयी है। मन व्याकूल है। अत: अपने स्वत्व की, स्वधर्म की, सचाई की याद कर। न्याय के लिये, धर्म की रक्षा के लिये, अपने पुरुषार्थ के लिये तुम्हें युद्ध करनाही होगा। इसी में तुम्हारा ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण है। तुम्हारा युद्ध कर्तव्य का एक भाग है। वह पारलौकिक कल्याण के लिये ऐहिक अनुष्ठान है, तप है।

"निष्काम बुद्धि से यह कर्तव्य कर्म करो। इसमें यश अपयश की आकांक्षा मत रखो। योगयुक्त हो कर निष्काम कर्म का अनुसरण करते हुए लडना सीख लो। संघर्ष से मुँह न मोडो। जो कुछ है, जो उपस्थित होता है, उसे अपने समग्र रूपमें स्वीकार करो। चाहे सुख हो दुख, युद्ध हो या शांति, विलास हो या विनाश। सभी को हँसमुख रहकर स्वीकार करो। बिलकुल निर्लेप बुद्धि से, अविकल मन से, स्थिर अंत:करण से यह अनुष्ठान करते रहो। संघर्ष को मत डरो। कायरपन छोड दो। यह अनुष्ठान ही परलोक की आनंद यात्रा है। यह समझ लेना चाहिये।

"इन सभी बांधवों के बारे में तेरे मन में अभी अभी किस प्रकार प्रेम पैदा हो रहा है! उन्होंने न केवल तेरे शरीर पर अमल कर लिया है, किंतु आत्मा पर भी। अत: तू इस अंधे प्रेम का जाल पहचान नहीं सकता। वह प्रेम नहीं, मोह है।

सच्चा प्रेम कभी जीवभाव के व्यामोह में नही पाया जाता। उस अमर प्रेम में वस्तुत: जीव शिवरूप है, अमर है। वह जो पाता है उसे न शोक है, न मोह या भय। जीवन के इस संघर्ष पूर्ण प्रसंग में डर कर तुम क्या पाओगे? किसी भी व्रत का अनुष्ठान कठीन रहता है किंतु उस के परिणाम शुभ होते हैं। अत: व्रतों की महिमा गायी जाती है। उनका अनुशासन कठोर होनेपर भी वे 'शंसित' (प्रशंसित) हैं, क्यों कि उनके परिणाम अंतत: कल्याणकारी हैं। यह युद्ध इसी प्रकार एक व्रत है। वह कठोर कर्तव्य है, उग्र संघर्ष है फिर उसके परिणाम नि:संशय शुभ होंगे। साथ ही इन बाह्य बातों की ओर ध्यान मत दे। परिणाम का महत्त्व भी आवश्यक नहीं। इन सभी बांधवों के विनाश का शोक मत कर। उनके विनाश का तू केवल निमित्त है। तेरी निज सत्ता ही अनुभव करने योग्य है। वही महत्त्व की है। स्वधर्मानुष्ठान कभी त्याज्य नहीं। अत: नि:संकोच उसे स्वीकार करते हुअे अपने कल्याण का मार्ग अपनाता जा।"

इस प्रकार धीरे धीरे श्रीभगवान श्री अर्जुनजी का मन शांत तथा कर्तव्य कर्म करने को प्रेरित करते हैं। उसे आश्वस्त करते हुअे, उसका ढाढस बँधाते हुए उससे कर्म कराने की यह चेष्टा एक भगवानही कर सकता है। श्री अर्जुनजी को निमित्त करते हुए यह दिव्यामृत धारा भगवान ने बहायी, भवसागर पार करने के लिये श्री गीतारूप नौका सभी के लिये प्रस्तुत करके मनुष्य समाज पर महान् उपकार सा किया है। यह तो लीला है आपकी ही!

संजय उवाच –

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंत मिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। १ ।।

अर्थ : संजय कहते हैं, "इस प्रकार जो करुणा से ओतप्रोत तथा शोकग्रस्त है, तथा जिसकी आँखों में पानी भर आया है उस अर्जुन से मधुसूदन ने कहा –

मग संजय म्हणे रायातें । आइकें तो पार्थ तेथें ।
शोकाकुळित रुदनातें । करित असे ।। १ ।।

अर्थ : संजय जी राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं, "हे राजन्, इस प्रकार शोक से ग्रस्त होकर पार्थ सचमुच रो रहा है ।

व्याख्या : संजयजी राजा धृतराष्ट्र से अर्जुन जी की विकलावस्था बताते हैं । वे कहते हैं, "अर्जुन को मानो दुःख ने ही अपनाया है । उसे रुलाई आयी है । भवितव्य के संबंध में उस के मन में शोक ही शोक पैदा हुआ है । उस के मन को कहीं सांत्वना नहीं । उसकी विकलता पनपती रहती है । युद्ध क्षेत्र का, उस संघर्ष का तथा उसके परिणाम का महाभयंकर तथा विनाशकारी स्वरूप देखकर, उस भयानक 'समारोह' का अति तीव्र असर उसके मनपर हुआ । वह सचमुच डर ही गया । देह धारणा अलग है, और धृति अलग है । धीरज के लिये भी देह की स्वस्थता आवश्यक है, किंतु अर्जुन का मन इतना अस्वस्थ हुआ कि देह भी कंपित हो गयी । देह का आलंबन

है आत्मा। आत्मीयता तो सर्वत्र व्याप्त है। उसकी देह में व्याप्त आत्मा अब चारों ओर फैलकर सभी के प्रति 'आत्मीय' का अनुभव कर रही है। वस्तुत: वह यथार्थ दर्शन नहीं है। क्यों कि यह अनुभव डर के कारण है। आत्मसत्ता के सच्चे साक्षात्कार में निर्भयता रहती है, वहाँ अभय है।

आत्म की झूठी कल्पना में फँसे हुए अर्जुन का मन संमोह में डूबा है, उस की आत्मा–जीव भाव–विलक्षण रूपसे तडप रही हें। जीव दशा का वह व्यामोह उसे दबा रहा है। इस विकल अवस्था में रुलाई के सिवा दूसरा चारा ही क्या है? ॥ १ ॥

तें कुळ देखोनि समस्त। स्नेह उपनलें उद्‌भुत।
तेणें द्रवलें असें चित्त। कवणेपरी ॥ २ ॥

अर्थ : वह संपूर्ण 'कुल' देखकर अर्जुनजी के मन में विलक्षण स्नेह पैदा हुआ। उस का चित्त किस प्रकार उस स्नेह में पिघल गया है।

व्याख्या : स्वभाव की यह विशेषता है कि जब तक उसमें किसी प्रकार परिवर्तन की संभाव्यता नहीं होती तब तक वह स्वस्थ है। उस में अंतर्विरोध निर्माण नहीं होता। किंतु जब उस में कुछ मौलिक बदल होने की संभावना है तब वह विद्रोही की भाँति बौखला उठता है। वह एक नया रूप दिखाता है। स्वभाव की सत्ता आत्मबल में है। जब वही 'बल' स्वभाव को आने लगता है, तब स्वभाव जो केवल प्राकृतिक आविष्कार है,

अकारण ही अस्थिर हो उठता है। स्वात्मबल की धारणा प्रकृति के प्रत्येक अणुरेणु को कार्यान्वित करती हुई मौलिक परिवर्तन करने में समर्थ है। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक जडता पिघलने लगती है। इस अवस्था में मन विद्रोह करने लगता है। अत: धीरज की आवश्यकता रहती है। यह धैर्य मामुली नहीं। कसे हुअे सुवर्ण की ही तुलना हो सकेगी। आत्मबल उसी धैर्य को आविष्कृत करता है। श्री भगवान की तो यही चाह है। उसकी कृपा क्या नहीं कर सकती ?॥ २॥

जैसें लवण जळें झळंबलें। नातरि अभ्र वातें हाले।
तैसें सधीर परि विरमलें। हृदय तयाचें॥ ३॥

अर्थ : जिस प्रकार नमक पानी में पिघल जाता है, हवा के झोकों के कारण मेघ भी हिलते हैं, उसी प्रकार उस धैर्यवान अर्जुनजी का अंत:करण भी द्रवीभूत हो गया।

व्याख्या : अर्जुनजी की अवस्था सचमुच बडी करुणापूर्ण हो गयी। एक ओर आत्मबल की प्रेरणा, तो दूसरी ओर स्वाभाविक जडता। उस के अंतर्द्वंद्व ने उसे पूर्ण रूप से कुरेदा है। उसका मन सचमुच खो गया है। मन की अहंता, कर्तृत्व की भावना कुछ भी न रही। वह अपने जीव भाव को ही खो गया। ब्रह्मरूप में जबर्दस्ती से नैष्कर्म्य अनुभव करना चाहता है वह। उसका जीवन मथा गया है, हवा के तीव्र झोकों के कारण मेघ स्थिर नहीं रह सकते। क्या पानी में नमक पिघल नहीं जायेगा ? जीवन पूरी तरह बदल रहा है। यद्यपि अर्जुनजी

धीरज बाँधकर हैं, तो भी वह सचमुच शरमाता है। प्राप्त प्रसंग का तीव्र झोंका वह सह नहीं सकता। उसकी अस्वाभाविक करुणा, कायरपन है। वह धीरे धीरे धीरज ही खो रहा है ॥ ३ ॥

म्हणौनि कृपा आकळिला। दिसतसे अति कोमाइला।
जैसा कर्दमि रुतला। राजहंस ॥ ४ ॥

अर्थ : इस प्रकार उसका अंत:करण करुणा से ही ओतप्रोत हुआ है, जिससे वह मुरझाया गया है। कीचड में फँसे हुए राजहंस की तरह उसकी अवस्था है।

व्याख्या : उस के मनपर उदारभाव का गहरा असर है। यह उदारता वास्तवमें अनुचित तथा भ्रामक है किंतु यह श्री अर्जुन क्यों नहीं समझता ? उस का अंत:करण व्यथित है, मोह से युक्त है, दया से व्याप्त है। प्राप्त परिस्थिति की पूरी पहचान वह कर ही नहीं सकता। कीचड में फँसे हुए राजहंस की भाँति वह भी मानस के त्रिगुणों की अनवस्था में, मोह में फँसा है। कर्मों के झंझट से हटने की अनुचित उदासीनता उसको लुभा रही है। दर्प के रूप भी कभी कभी भ्रम में डालने योग्य होते हैं। स्फटिक के परावर्तित किरण भी उलझन पैदा करते हैं। यहाँ तो त्रिगुणात्मक मोहमयी माया अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिये, क्या क्या खिलवाड कर रही है !! ॥४॥

तयापरि तो पांडुकुमरु। माहामोहें अतिजर्जरु।
तें देखोनि श्री सारंगधरु। काय बोले ॥ ५ ॥

अर्थ : महामोह से अत्यन्त त्रस्त हुए श्री अर्जुनजी से श्री

भगवान् बोले --

व्याख्या : संचित के अनवस्था प्रसंग में फँसे हुए अर्जुनजी का मन सर्वथा व्याकूल तथा अनुचित दया के कारण त्रस्त है। अहंता तथा करुणा का झूठा अभिनिवेश होने के कारण उसे अपने कर्मों का मोह है जो सचमुच उसे फँसा रहा है। आत्मबल की उपेक्षा हो रही है। कर्मों की गुणमयी माया उसे परास्त कर रहो है। उसकी आत्मा सर्वथा ढँकी हुओ है। 'पुरुष' की विद्यमानता होनेपर भो 'प्रकृति' की कर्मण्यता उसे उलझन में ढकेल रही है। वह निराश, उदास हो कर संभाव्य संहार से भयभीत हो चुका है। कुछ समझ नहीं सकता कि क्या किया जाय। ऐसी दयनीय अवस्था देखकर दयाघन श्रीभगवान् शारंगधर उससे कहने लगे- ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच -

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अर्थ : श्रीभगवान् ने कहा- 'हे अर्जुन ! इस विषम अवस्था में (प्रसंग में) तुम्हें यह अनार्य को प्रिय, स्वर्ग को विघातक, अप-अकीर्तिकर तथा कष्टप्रद मोह कैसे प्राप्त हुआ ?

व्याख्या : वस्तुत: यह एक विलक्षण संकट है, उस से परास्त होना सर्वथा अनुचित। संकट का प्रतिकार करना आवश्यक न कि उस से मुँह मोडना। जब तुम उस अवस्था को ठीक ठीक नहीं समझते, तब उस के पीछे तुम्हारे 'मोह'

के सिवा और क्या है ? तुम्हारा यह मोह ही ग्लानी में परिणत होता है। यह तुम्हारा कर्म अवास्तव तथा अन्यथा है, जो तुम जैसे वीरवर को शोभा नहीं देता। विषम प्रसंग में रोगी चिकित्सा में, अनुपान के साथ पथ्य स्वीकार करे तो ठीक। किंतु तुम्हारा प्रस्तुत कर्म उसके विपरित है। क्या सचमुच तुम नहीं समझते हो ? तुम्हारे विचार तथा विकार अन्यथा होकर किसी दूसरे ही प्रश्न की ओर संकेत करते हैं। मैं सचमुच आश्चर्य में हूँ। ज्ञानी तथा वृद्धों के आचार धर्म का पालन करनेवाला ही आर्य कहलाता है। तुम उस आदर्श को भूल रहे हो। तुम्हारे कथन में शब्द हैं किंतु अर्थ नहीं क्यों कि तुम्हारे शब्दों से कल्पना विलास से, प्राकृतिक जडता से उलझन ही पैदा हो रही है। शब्दों की कीर्ति धृति में है। आत्मबल ही धृति का आधार है, पौरुष की प्रेरणा है। तुम्हारे प्राकृतिक व्यामोह 'पुरुष' की सत्ता स्वीकार करने में हिचकिचा रहे हैं। तुम्हारी करुणा व्यामोह का लुभावना आविष्कार है। यह ठीक ठीक समझ लो।

म्हणे अर्जुना आदिं पाहीं। हें उचित काय इयें ठायीं।
तूं कवण हें कायी। करितं आहासी ॥ ६ ॥

अर्थ : श्रीभगवान ने कहा– "हे अर्जुन, तुम पहले यह देख लो कि यह तुम्हारा बर्ताव इस प्रसंग में कहाँ तक उचित है ? तुम कौन हो और तुम क्या कर रहे हो ?

व्याख्या : श्री भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन, यहाँ संग्राम छिड रहा है और तुम कायरपन दिखा रहे हो। यह तुम्हारी

करुणा सर्वथा अनुचित है। यहाँ जो कर्तव्य है उसे छोडकर भागना कहाँ तक उचित होगा ? तुमने यह क्या आरंभ किया समझ नहीं सकता। ॥ ६ ॥

तुज सांगे काय जाहालें। कवण उणें आलें।
करितां काय ठेलें। खेदु कायिसा ॥ ७ ॥

अर्थ : ऐसी क्या बात हुई है ? कहो तो सही। किस की कमी है ? क्या ऐसा कुछ काम है जो अभी पूरा करना है ? फिर यह दुःख किसलिये ? ॥ ७ ॥

तूं अनुचिता चित्त नेदिसि। धीर कहीं न संडिसी।
तुझेनि नांवें अपेसी। दिशा लंघी ॥ ८ ॥

अर्थ : जो अयोग्य है, उस ओर तुमने ध्यान नहीं दिया, कभी धरिज भी कम नहीं हुआ, इतनाही नहीं तो तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश समस्त दिशाओं को लाँघ कर भाग गया।

व्याख्या : वस्तुतः अब युद्ध कर्तव्य है। तुम्हारे लिये इससे बढकर और कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हैही नहीं। किंतु तुम्हारी मनस्थिति देखकर बहुत आश्चर्य हो रहा है। यह अकर्मण्यता सर्वथा अनुचित है। आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ। कर्तव्य कर्म के संबंध में तुम सदैव अग्रसर रहे हो। किसी भी प्रकार के कर्तव्य को तुमने भलीभाँति पूर्ण किया है। तुम्हारा धैर्य, तुम्हारी तत्परता तथा शौर्य सचमुच महापुरुष के योग्य है। तुमने अयश कभी देखा तक नहीं। 'अपयश' अपने आप भाग

जाता है उस पार। दिशाओं के भी पार हो जाता है क्यों कि तुम्हारा नाम भो विजय ! ॥ ८ ॥

तूं शूरवृत्तिचा ठावो। क्षत्रियां माजि रावो।
तुझियां लाटेपणाचा आवो। तिहीं लोकीं ॥९॥

अर्थ : तुम सचमुच शूर वृत्ति के आधार हो। सभी क्षत्रियों में तुम्हीं श्रेष्ठ हो। त्रैलोक्य में तुम्हारी श्रेष्ठता का आतंक है।

व्याख्या : तुम्हारे शौर्य के बारे में क्या कहना। शौर्य ही तुम्हारा आधार पाता है। तुम्हीं उस का मूलाधार हो। क्षात्र तेज स्वभावत: बलिष्ठ है तिसपर तुम क्षत्रियों में भी श्रेष्ठ हो। तुम्हारे शौर्य-वीर्य की गाथा त्रैलोक्य में गूँज उठी है। तुम्हारी प्रतिष्ठा इतनी बढ चढकर है कि किसी भी प्रकार का काम तत्परता से पूर्ण होता है। थोडा भी विलंब नहीं रहता। इसी में तुम्हारी श्रेष्ठता, तत्परता तथा कर्तव्यपरायणता स्पष्ट होती है। ॥ ९ ॥

तुंवा संग्रामीं हरू जितिला। निवात कवचांचा ठावो फेडिला।
पवाडा तुंवा केला। गंधर्वांसीं ॥ १० ॥

अर्थ : तुमने युद्ध में प्रत्यक्ष भगवान् शंकर को भी जीत लिया, निवात कवच (दैत्यों) को भी परास्त किया, गंधर्वों को पराभूत करके अपनी कीर्ति फैलायी।

व्याख्या : तुम्हारा शौर्य शूरता का आदर्श है। देवाधिदेव श्री भगवान् कैलासपति, जो योगसामर्थ्य के कारण सर्वथा

अतुलनीय, अजिक्य है, वे भी तुम्हारा युद्धकौशल देखकर चकित हुए। तुम्हारा अपूर्व क्षात्रतेज देखकर वे प्रसन्न हुए। निवात कवच दैत्यों का भी तुमने पराभव किया। निवात कवच खोजकर उखाडना आसान नहीं था। 'मनुष्य' का बोझ भी कठीन है, उसे हलका करना, तथा सत्त्व गुणों से भर देना प्रदीर्घ तपस्या है। सत्त्व की हवा का झोंका केवल परमेश्वर की ही कृपा है, जो तुझे प्राप्त है। देहधारणा का गंभीर रहस्य वस्तुत: आत्मतत्त्व में है। यही आत्मीयता सर्वत्र व्याप्त है। तुमने तो वीरता में वह अनुभव किया है। उसका सामर्थ्य प्राप्त होने से तुम्हारा शौर्य सचमुच अतुल हैं।

—प्रत्यक्ष गंधर्वों से लडकर तुमने विजय प्राप्त की। तुम्हारा स्वयंभू माहात्म्य वहाँ भी प्रकट हुआ। अपनी महत्ता का एक सुन्दर गीत गाया गया। ॥ १० ॥

हें पाहतां तुझेनि पाडें। दिसें त्रैलोक्यहि थोकडें।
ऐसें पुरुषत्व चोखडें। पार्था तुझें ॥ ११ ॥

अर्थ : इस प्रकार तुम्हारे कर्तृत्व के बारे में लगता है कि उसकी तुलना त्रैलोक्य में भी नहीं हो सकती। हे अर्जुन ! तुम्हारा पौरुष, पराक्रम संपूर्णतया अप्रतिम है।

तो तूं कीं आजि येथें। सांडूनियां वीरवृत्तीतें।
अधोमुख रुदनातें। करित आहासी ॥ १२ ॥

अर्थ : तिस पर भी तुमने आज यहाँ वीरवृत्ति छोडकर, अधोमुख होकर रोना शुरु किया है। ॥ १२ ॥

विचारां तूं अर्जुनु। कीं कारुण्यें किजसी दिनु।
सांग पां आंधारे कां भानु। ग्रासिला आथी ॥१३॥

अर्थ : हे अर्जुन, तुम विचार करो। कारुण्य के कारण तुमने दीनता स्वीकार की है। क्या सूर्य कभी अँधेरे से ढँका जायेगा ?

व्याख्या : मूर्तिमान दिव्य तेजोरूप होकर भी इस प्रकार करुणा से क्यों भर गये हो ? क्या कभी तेज ग्लानियुक्त हो जाता है ? तेज कभी दीनता स्वीकार नहीं करता। हे अर्जुन ! तुम विचार करो कि यह करुणा किस लिये ? क्या कभी दिव्यता ग्रस्त हो सकती है ? तेज सर्वथा स्वयंप्रकाशी है उससे 'करुणा' की 'दीनता' की याचना कैसे संभव है ? तेज है तो दिन है। दिन सर्वथा तेज ही के कारण है। फिर 'तेज' से 'दिन' की दिवस की प्रार्थना क्यों कर संभव है ? यह तुम्हारा बर्ताव विपरीत है। विपर्यस्त कल्पना के कारण तुम व्यामोह में पडे हो। क्या अंधेरा कभी करुणा करके भाग जा सकता है ? वह वस्तुत: 'तेज' का अभाव है। तुम तो स्वयं तेजोरूप हो। यह समझा नहीं जाता कि तुम किस प्रकार ग्रस्त हुए हो ? दिव्य तेजोरूप भगवान् सूर्यनारायण क्या कभी अंधेरे से ग्रस्त हैं। सूर्य याने तेज ही तेज है। अंधेरा हो ही नहीं सकता। न वहाँ वह अंधेर है, या उसका वाचक शब्द भी। केवल तेज ! दीप्तिमान्, उर्जस्वल ! ! ॥१३॥

ना तरि पवन मेघातें भिये। कि अमृतासि मरण आहे।
पाहें पां इंधनचि गिळुनि जाये। पावकातें ॥१४॥

अर्थ : क्या कभी पवन मेघों से डरता है, या अमृत मर

जाता है ? यह देख कि क्या कभी अग्नि को ही इंधन नष्ट करेगा ? ।।१४।।

व्याख्या : वस्तुत: तुम्हारा पौरुष तथा पराक्रम अत्यन्त श्रेष्ठ है। तुम्हारा पराक्रमरूप मरुत् मेघों से क्यों डरता है ? यह कैसे संभव है ? आश्चर्य होता है कि तुम इस असंभव जैसी बात को सही समझ रहे हो। पवन के झोंकों से मेघ रहेंगे भी नहीं। वे अपने आप गायब हो जायेंगे। फिर डर कहाँ से ! और देख कि 'अमृत' शब्द भी ऐसा है, जिसका उच्चार तथा अर्थ मृत्यू का किसी भी प्रकार संकेत तक नहीं करने देता। मृत्यु का अभाव ही अमृत है। अमृत के पास मृत्यु की कल्पना तक नहीं बन सकती। बात बिलकुल स्पष्ट है। तुम तो पौरुष के प्रतीक हो। पराक्रम के मूर्तिमान पहाड हो। क्या कभी यह संभव है कि तुम डरोगे ? फिर भी यह निस्तेज स्वरूप देखकर मन चकराता है कि बात अनहोनी हो रही है। ज्ञानरूप सूर्य अज्ञान से ढँका नहीं जा सकता। ज्ञान का तेज कभी मलीन नहीं हो सकता।

अग्नि में डाला गया इंधन अग्नि ही होकर रहेगा। उसका अपना अस्तित्व कभी संभव नहीं। न वह अग्नि को इंधन के मूलरूप को प्राप्त करा सकता है, न वह स्वयं अलग रह सकता। वहाँ अग्नि की ज्वाला ही बनी रहेगी। इंधन पहले जलेगाही, और बाद में वह शांत होगा। उसकी पूर्व स्थिति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। अग्निस्पर्श उसे आमूल बदल डालेगा।

वहाँ शांति है, किन्तु वह भी बाद में। उस की अलगता नष्ट होने पर। तब तक केवल ज्वाला है, तीव्र ताप है।

उसी प्रकार हमारी देह बुद्धि भी। त्रिविध तापों द्वारा तप्त हुई हमारी बुद्धि जब स्वयमेव लीन हो जाती है, उसकी अलग सत्ता आत्मरूप में समर्पित हो जाती है तभी वहाँ 'योग भाव' है। उसकी महत्ता अनिर्वचनीय है। इस जगत्‌रूप जंगल में जो त्रिविध ताप हैं, वेही सचमुच पावकरूप बनते हैं। देहबुद्धि को नष्ट करने में उनका सहकार्य है। जब हम यह जानते हैं तब, उस योगभाव को महत्त्व प्राप्त होता है, तब इन तापों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। उनका अस्तित्व बना रहे या न रहे, किसी भी प्रकार वे कष्ट नहीं दे सकते। 'योगभाव' की धारणा त्रिविध तापों को महत्त्व नहीं दिलाती। देह 'केवल' बुद्धि को नहीं स्वीकार करती। योगभाव के कारण वह त्रिविध तापों का दु:ख प्रशमित होता है। इन तापों से डर कर ईशचरणों की आश्रय पाने को मन उत्सुक रहता है। यह महिमा भी कुछ कम महत्त्व की नहीं।

मनुष्य की देहबुद्धि स्वयमेव अज्ञान है। वह अज्ञान देहाकार में व्याप्त है। 'नाममहात्म्य' ही योगभाव का आधार है। जब अंतरंग में नाममहिमा बढता है, तब योगभाव की भी वृद्धि होती है। क्या कभी अज्ञानांध:कार ज्ञान की ज्योति को मिटा सकता है? जब 'नाम' स्वीकार करते हैं, जब उसके अनुसंधान में रहते हैं, तब देहभाव अपने आप हट जायेगा।

देह भावना सर्वथा जड है। वह स्वयं नष्ट होने के ही पात्र है। त्रिविध तापों के द्वारा जब वह जल जाती है, योग भाव के कारण जब वहाँ नामधारणा स्थिर होती है, तब डर है कहाँ ? निर्भयता का वरदान है। जो चैतन्य को अपनाता है वह चैतन्यमय होगा। जो विकारों को अपनायेगा वह देहबुद्धि को बनाता रहेगा। यह असंभव है कि इंधन अग्नि को नष्ट करेगा, सूर्य अंधियारा फैलायेगा। त्रिविध तापरूप पावक नाममाहात्म्य को प्रेरित करता है, नाममाहात्म्य अनुभव करने पर साधक त्रिविध तापों का दु:ख सह सकता है। विविध दु:खों के कारण मनुष्य अन्तर्मुख होकर ईशचरणों की शरण जाना चाहता है। वहीं उसे 'नाममाहात्म्य' का प्रसाद प्राप्त होता है। तब उसकी जीवन धारणा ही बदल जाती है। वह इन तापों को सहायक समझता है। देहबुद्धि रूप इंधन को नष्ट करनेवाला यह अग्नि ही है। अत: मनुष्य के अंत:करण में 'योगभाव' विराजता है। फिर सभी आपत्तियाँ, तथा दु:खोंको सहते हुए वह नाममाहात्म्य के आधार पर आत्मसत्ता का अनुभव करने को दृढ हो जाता है। ॥ १४ ॥

कि लवणेंचि जळ विरें। संसर्गे काळकुट मरे।
सांगे महाफणि दर्दुरें। गिळिजे कायी ॥१५॥

अर्थ : क्या कभी पानी नमक से पिघल जायेगा ? संसर्ग के कारण कभी कालकूट मर सकता है ? कभी दादुर बडे सर्प को निगल सकता है ? ॥१५॥

व्याख्या : तुम तो सचमुच धैर्यवान हो। हिम्मत से पार होनेवाले हो। संकटों से मुकाबला करनेवाले हो। तिसपर भी तुम्हारा यह कथन शोभा नहीं देता। जो मूलत: व्यर्थ है, झूठ है, आभासमय है; उसे तुम अपने 'विधान' द्वारा सच बना रहे हो। समझ नहीं सकता कि तुम्हारी यह चमत्कृति क्यों कर पैदा हुई? यह बडा आश्चर्य है। क्या नमक पानी को छिपायेगा? पानी नहीं पिघलता, नमकही पिघलता है। नमक की महत्ता नहीं कि वह पानी को हटायेगा। संसर्ग भी घातक है। कालकुट का संसर्ग कालकुट के लिये कैसे अनिष्ट होगा? जो कोई कालकुट के संसर्ग में आयेगा वही मरेगा। कालकुट क्या मर सकता है? उसकी घातकता बढचढकर है। दादुर की शक्ति कभी इतनी बढ सकती है क्या कि जिससे वह महा नागराज को भी निगल सकेगा? यह सब विपरीत है। जीवन में एक सिलसिला है। प्रकृतिका भी एक क्रम है। उसे कोई बाधित नहीं कर सकता। अत: तुम्हारा कथन विपर्यस्त है ॥१५॥

सिंहासि झोंबे कोल्हा। ऐसा अपाड आथी कां जाला।
परि तो तुवां साच केला। आजी येथें ॥१६॥

अर्थ : 'सियार शेर के साथ लडता है' ऐसा अपूर्व चमत्कार कहीं दिखाई नहीं देता। किंतु तुम अपने कथन के द्वारा इस बात को सच कर रहे हो ॥१६॥

व्याख्या : यह बडी भूल होगी कि प्रकृति के विरुद्ध होकर,

क्रम को लाँघकर अन्यथा बरतना। उपर्युक्त दृष्टान्तों के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रकृतिन्याय छोडना अनुचित है। स्वभाव सिद्ध बातों को छोड कर बरतने से लाभ के बजाय हानि ही होगी। ऐसे बरतते रहना भी मुश्किल होता है। विचारवन्त स्वाभाविक योग्यता को अपनाकर, प्रकृतिसिद्ध नियमों का पालन करते हैं। उनके विरुद्ध अनुसरण होने पर प्राकृतिक दण्ड द्वारा फिर पीछे आना पडता है। अपनी पात्रता देखनी परखनी पडती है। क्या सियार कभी शेर से मुकाबला करेगा? किस प्रकार उन दोनों की समानता होगी? शेर की गर्जना और है, और सियार की वल्गना भी और!

अनुचित बर्ताव कभी उपयुक्त नहीं। तुम तो महान् पराक्रमी हो। यह ग्लानी, अप्राकृतिक धारणा तथा अनुचित अनुष्ठान केवल मायावश हो रहा है। तुम सचमुच माया के जंजाल में फँसे हो ।।१६।

म्हणोनि आझुणि अर्जुना। झणें चित्त देसी या हीना।
वेगिं धीर करूनि मनां। सावधान होयिं ।।१७।।

अर्थ : अतएव हे अर्जुन! मन में धीरज बाँधो। जल्दही सावधान हो जाओ। अपना मन संयमित करो। उसे हीन-दीन मत बनाओ ।।१७।।

व्याख्या : अतएव अब भी कुछ विचार करो। इस प्रकार हीन-दीन बातों को छोड दो। उनका विचार भी मत करो। धीरज रखो। हिम्मत से रहो। सावधान हो जाओ। सोने का

स्वर्णिम तेज तुम्हारे रूपमें साकार है। धैर्य तथा वीर्य का आवेश तुम में मूर्तिमान है। तिसपर तुम इन हीन वृत्तियों का, ग्लानिका, अस्वाभाविक भावनाओं का आश्रय बन रहे हो। बडा आश्चर्य हो रहा है। वह पौरुष, तेज तथा पराक्रम छोडकर वाणी से दीनता व्यक्त करते हुए तुम न करुणा बढाते हो न सच्ची दया करते। केवल भ्रमवश इस प्रकार बरतते हो जो देखकर तुम्हारा अपना पराक्रम भी शरमाता है। उससे भी यह सहा नहीं जाता। अत: सावध हो जाओ। स्थिरचित्त हो जाओ ।।१७।।

सांडि हे मूर्खपण। उठीं घे धनुष्ये बाण।
संग्रामीं हें कवण। कारुण्य तुझें ।। १८ ।।

अर्थ : यह मूर्खता छोड दो। धनुष्य बाण लेकर तैंयार हो जाओ। संग्राम के समय यह करुणा क्यों कर ? ।।१८।।

व्याख्या : यह मूर्खता छोड दो। प्रसंग के अनुरूप बर्ताव करो। इस संग्राम के समय वीरता का अलंकारही आवश्यक है। वही सच्चा भूषण है। उसका स्वीकार करना चाहिये। वीरता का आभूषण शस्त्र है न कि शास्त्र या वक्तव्य। तुम वीरता को अपनाओ। शस्त्रास्त्र संपन्न हो जाओ। यह भीरुता तुम्हें शोभा नहीं देती। यहाँ संघर्ष वीरता से है। वीर वृत्ति संघर्षका, संग्राम का मुकाबला कर सकती है। यह युद्ध वीरता का है, यहाँ करुणा किस काम की ? तुम्हारा कथन सर्वथा अप्रस्तुत है तथा तुम्हारा वर्तन अशोभनीय तथा अनुचित है।

तुम स्वयं दीन सा बर्ताव कर रहे हो जिससे तुम्हारे प्रतिस्पर्धी वीरता के आवेश में प्रमत्त हो गये हैं। तुम्हारा यह कारुण्य उन्हें बढावा देता है। संघर्ष के इस उग्र स्वरूप में तुम्हें यह कदापि उचित नहीं। सदयता, करुणा, हीनता या दीनता, भय तथा अप्राकृतिक बर्ताव आदि सभी तुमपर ही हमला कर रहे हैं और तुम उनके जंजाल में फँस कर, उनके आघातों से आहत होकर बराबर फँसते जा रहे हो, जीते जा रहे हो ।।१८।।

हां गा तूं जाणता। तरि न विचारिसी कां आतां।
सांगें जुंझावेळें सदयता। उचित कायी ?।। १९ ।।

अर्थ : तुम अपने को ज्ञाता कहलाते हो, फिर यह कहो कि यह ज्ञातृत्व तुम अब क्यों नहीं जानते ? युद्ध के समय दयाभाव कहाँ तक उचित है ? ।।१९।।

व्याख्या : तुम यह सब कुछ समझते हो। अपने मनकोही पूछो कि यह कहाँ तक उचित है ? यह संग्राम स्वर्ग तथा मृत्यु की सीमा रेषा। एक ओर जीवन है दूसरी ओर मृत्यु। एक ओर मृत्युसे मिलना है दूसरी ओर स्वर्ग में प्रवेश पाना है। बिना मौत कोई स्वर्ग नहीं देख सकता। इस समर प्रसंग में जान की कुर्बानी है। मौत की सफलता है स्वर्ग का प्रवेश। यहाँ करुणा की लज्जा किस लिये ? कठोर प्रसंग में करुणा नहीं क्रोध आवश्यक है। 'राम' की, 'क्षात्रतेज' की उपासना जरूर होनी चाहिये। निर्द्वंद्व होकर अपने स्वभाव के अनुरूप क्षत्रीयधर्म की रक्षा करनाही तुम्हारा महान कर्तव्य है। यहाँ दया न हों।

मन कठोर करो। संयमित करो। प्रसंग के अनुरूप, अपने धर्म के योग्य, स्वधर्मानुष्ठान करो ।।१९।।

हे असतिये कीर्तिसी नाशु। आणि परत्रिकांसी अपभ्रंशु।
म्हणें श्रीजगन्निवासु। अर्जुनातें ।।२०।।

अर्थ : "इस से आज जो कीर्ति प्राप्त है वह नष्ट होगी, परलोक की गति रुद्ध होगी" यह श्री भगवान जगन्नायक अर्जुनजी से कहते हैं– ।।२०।।

व्याख्या : श्री जगन्निवास भगवान् श्रीकृष्णजी अर्जुनजी से कहते हैं– "तुम करुणामय होकर क्या पाओगे ? क्या लाभ हाथ आयेगा ? आज तक तुम्हारा पौरुष तुम्हारा पराक्रम सचमुच महान है। तुम्हारी कीर्तिध्वजा दिगंत में फहरायी है। अब वह न रहेगी। पराक्रम नहीं, पौरुष नहीं तो फिर कीर्ति कलंकित होगी। तुम्हारी भिरुता, तुम्हारा डर सर्वथा अस्वाभाविक है। तुम, शरमाये जाओगे। तुम्हारा परलोक साधन भी स्वधर्म त्याग के कारण नष्ट होगा। तुम्हारा क्षात्रधर्म तुम छोड रहे हो। इससे किसी भी प्रकार लाभ नहीं होगा। केवल हानि है और कुछ नहीं ।।२०।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।

अर्थ : हे पार्थ यह क्लीबता मत स्वीकारो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे शत्रुतापन ! मन का क्षुद्र दौर्बल्य छोंड कर युद्ध कों तैयार हो जाओ ।। ३ ।।

म्हणौनि शोक न करीं। तूं परता धीर धरीं।
हे शोच्यता अव्हेरी। पांडुकुमरा ॥२१॥

अर्थ : "अतः हे पांडुकुमर ! तू शोक मत कर। धीरज रख। हीनता–शोच्यता छोड !" ॥२१॥

व्याख्या : श्री भगवान् जगन्निवास गोपालकृष्णजी अर्जुनजी से कहते हैं कि तुम विचार करो। अपने 'स्व' की बात सोचो। अपने हित की ओर देखो। जो कर्तव्य है उसे ठीक ठीक समझ कर उससे मुँह मत मोडो। उसके लिये तैयार हो जाओ।' बार बार यही सीख श्री भगवान् दे रहे हैं। अर्जुनजी का विपर्यस्त आक्रोश तथा उसकी अनुचित शोच्यता उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं। उसका धीरज बाँधते हुअे आप उपदेश दे रहे हैं ॥२१॥

तुज नव्हे हें उचित। यंणें नासेल जोडलें बहुत।
तूं अझुनि तरी हित। विचारीं पां ॥ २२॥

अर्थ : इस प्रकार शोकग्रस्त होना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं। इससे अब तक जो कुछ तुमने पाया है, वह भी नष्ट होगा। यह विचार करो कि तुम्हारा कल्याण किसमें है ? ॥२२॥

व्याख्या : यह स्पष्ट है कि तुमने आज तक बडी प्रतिष्ठा, कीर्ति पायी है। वस्तुतः मनुष्य की यह देह सचमुच दुर्लभ है। बहुतही पुण्य उस के पीछे है। इस देह की कृतार्थता अपने कर्तव्यानुष्ठान में है। कर्तव्य छोडकर कुछ भी लाभ संभव

नहीं। इस प्रकार परावृत्त होना तथा संग्राम से डरना तुम्हें शोभा नहीं देता। इस देह की उपलब्धि सचमुच बडी सौभाग्य की बात है। तुम्हारी वृत्तियाँ अब उस सौभाग्य को ठुकरा दे रही हैं। तुम्हारी अपनी प्रतिष्ठा–कीर्ति–यह सौभाग्य सब कुछ इस बर्ताव से सर्वथा विफल हो रहा है। अत: गौर से विचार करो। अपने हित की बात सोचो। कर्तव्यानुष्ठान का मार्ग स्वीकारो। समय किसी के लिये नहीं ठहरता। अबतक वह मौका नहीं गया। जल्दी विचार करो और अपने स्वधर्मरूप कर्तव्य कर्म को अपनाओ ।।२२।।

येणें संग्रामाचेनि अवसरें। येथे कृपाळुपण नुपकरे।
हे आतांचि काय सोयरे। जाले तुज ।। २३ ।।

अर्थ : इस युध्द के समय इस प्रकार दयाभाव का अवलंब करना किसी को भी (उपयुक्त नहीं हो सकता) उपकारक नहीं हो सकता. ये सभी गोत्रज क्या अभी अभी तुम्हारे रिश्तेदार हुअे हैं? । २३ ।

व्याख्या : क्या यह समय तुम्हारे लिये मौका नहीं? क्या यही समय है कि जिस लिये तुम अखडते हो? अपने कर्तव्य को छोड कर इस प्रकार दूर हटना कहाँ तक उचित है? तुम्हारे इस बर्ताव से कायर भी शूर बन गये हैं। तुम जैसे विजयी वीर को कायरता की बाधा प्राप्त हुई है। तुम अपने को धोखा दे रहे हो। वस्तुत: माया का प्रपंच विलक्षण है। वह बुद्धि को प्रभावित करता है। उस के प्रभाव के कारण बुध्दि विवेकक्षम

नहीं रहती। तुम्हारी आर्तता का परिणाम क्या है यह तुम समझते नहीं। तुम्हीं सोच लो कि इससे कर्तव्य तो दूर रहा किंतु कायरों को भी विलक्षण महत्ता प्राप्त हो रही है। अपने को धोखा देना सर्वथा अनुचित है। तुम्हारी दया सर्वथा अनुचित है। यह कृपा तुम्हारे शत्रुओं का कल्याण करेगी न कि तुम्हारा कल्याण। केवल शाब्दिक ज्ञान कुछ उपयुक्त नहीं। जो मोहवश तुम कह रहे हो वह सचमुच दंभ का बुरा परिणाम है।

तुम जो कुछ बोल रहे हो, उस के पीछे वस्तुत: उस शब्दातीत का संकेत हो रहा है। एक तो तुम उसे ठीक ठीक समझ नहीं सके और दूसरी ओर वृथा अभिमान से भरे रहकर तुम अपने कर्तव्य को छोड रहे हो। शब्द की रसमयता वस्तुत: आत्मतत्त्व की उपलब्धि में पूर्णत: अनुभव की जाती है। तुम्हारे वक्तव्य में दया का जो स्रोत है वह मौलिक नहीं, ऊपरी है। अत: वह सत्ता, वह आत्मप्रत्यय ठीक ठीक बिना अनुभव किये तुम कुछ करोगे नहीं। शब्द की वह विलक्षण रसवत्ता उसीमें निहीत है। अत: वही सचमुच "वल्लभ" है, प्रिय है, श्रेय भी वही है। उसे अपनाने के लिये अपने प्राकृतिक गुण दोषोंका, अपने स्वाभाविक विचारों का तथा विकारों का 'सहज' ही विसर्जन, समर्पण होना उचित है। यह सहजता शाब्दिक रूपमें बहुत आसान किंतु प्रत्यक्ष में उतनी सरल नहीं। हमारे अपने ही बन्धन बाधा बन जाते हैं। कहने में सुगम है करने में नहीं। तुम समझते हो कि यह झट हो जायेगा। किंतु यह तुम्हारी भूल भी 'सहज' समझमें नहीं आती। तुम्हारा विपर्यस्त कथन ही इसका प्रधान प्रमाण है।

यह स्पष्ट है कि सभी गुण अपनी प्रकृति के अधीन है। उनका समत्व प्राकृतिक विलय की ओर ले जाता है। शब्द भी उसी ओर जाता है। शब्दों का विसर्जन आत्मतत्त्व की ओर ले जाता है। अत: यहाँ शब्दों के भँवरे में घूमते रहने के बजाय आत्मतत्त्व के मौलिक स्रोत में अवगाहन करना ही उचित है। केवल शब्दों में नहीं, शब्दों से परे होने में उसकी उपलब्धि है। फिर क्यों कर शब्दों के पीछे रहें? 'दया' आत्मीयता की आभा है। जब तक वह आत्मीयता हम नहीं अनुभव करते तब तक दया का आविष्कार 'दंभ' के सिवा और कुछ नहीं। इस ऊपरी दया के कारण हम प्रकृति के पूजन में ही लगे रहेंगे। फिर आत्मत्व की उपलब्धि कहाँ? अप्सराओं का लावण्य सहज स्वाभाविक तथा अनाघ्रात है। उन्हें सौंदर्य के लिये अन्य विभ्रमों की बिलकुल आवश्यकता नहीं। तुम्हारा क्षात्र धर्म भी उसी प्रकार है। उस से मुँह मोडना अनुचित होगा। अत: अपने स्वाभाविक क्षात्रधर्म की ओर देखो तथा सरलता से, स्वाभाविक रूप से उसका अनुष्ठान करते रहो। ।। २३ ।।

तूं आधींचि काय नेणसी। कीं हे गोत्रज नोळखसी।
वायांचि काय करिसी। अतिशो आतां ।। २४ ।।

अर्थ : तुम क्या यह जानते नहीं हो कि ये सभी तुम्हारे गोत्रज हैं? फिर अब यह शोक की पराकाष्ठा क्यों? ।।२४।।

व्याख्या : नदी के उगमस्थान को देखने के लिये हमें क्या

कम परिश्रम करने पडते हैं ? तिस पर भी वह देखा जाताहा है, यह कैसे कह सकते है ? यह सचमुच कठीन बात है । उस अपार कों पाने जैसा कठीन ! जन्म जन्म तक कठोर परिश्रम करनेपर भी वह "असीम" "अपार" प्राप्त नहीं हो सकता । सभी प्रयत्न यहाँ असफल रहते हैं । केवल दृष्टान्त के लिये ही यह कहा गया है । गोत्रज भी इसी प्रकार के । उनका अस्तित्व एक क्रमबद्ध परंपरा है । वे वस्तुत: ब्रह्मवंश की बातें करते हैं जो सर्वथा व्यर्थ हैं । न ब्रह्म का कुछ वंश हो सकता है न ये गोत्रज वहाँ तक पहुँचते हैं । इन्हें केवल बाधा डालनाही मालूम है । इनके चंगुल में फँसकर, इनके प्रति दया को अवसर देकर तुम तो सर्वनाश की ओर जा रहे हो । क्या उन्हें कभी सन्तोष होगा ? क्या वे तुम्हारे साथ युद्ध करने नहीं आये ? क्या तुम उन्हें पहचानते नहीं ? क्या उनकी नीति झूठी नहीं ? अपनी अधीरता के कारण तुम अकारण दयावश हो । तुम्हारी यह दया, यह कृपा उन लोंगों के लिये सुअवसर होगा किंतु तुम्हारे लिये सर्वनाश है ।

गोत्रज तो बाहर खडे हैं किंतु तुम्हारे अन्तरंगमें भी विकार रूप गोत्रज हैं, जिन्हें तुमने पहचाना नहीं क्या ? कुछ विरक्त बनो, देखो । तटस्थ होकर इनके पाशों का (गूँथा) जाल देख लो । इन विकारों को अपनाकर तुम क्या पाओगे ? तुम्हारा अपना अस्तित्त्व भी धोखे में है । विकारवशता इतनी प्रभावकारी होती है कि प्रत्यक्ष विधाता भी कुछ कर नहां सकता । अत: चुप्पी साधकर बैठो । मौन रहो । अंतरंग खोलकर देखो ।

विकाराधीन मत हो। धीरज बाँधों। अपने धर्म को पहचानो। क्षात्रवृत्ति का त्याग उचित नहीं। वह तुम्हारे घर की है, स्वभावसिद्ध है। अपने बाल बच्चों के प्रति जिस प्रकार प्यार स्वभावज है, उसी प्रकार क्षात्रधर्म–स्वधर्म–का प्रेम भी। उसे छोडकर क्या पाओगे ? उस को समझ लो। स्वभाव को समझ लो। स्वधर्म को अपना लो। यही सीखना उचित है। व्यर्थ की बातें किसी भी प्रकार लाभकारी नहीं होतीं ।।२४।।

आजिचें हें झुंज। कायि जन्मा नवल तुज।
हें परस्परें तुम्हां व्याज। सदांचि आथि ।।२५।।

अर्थ : आज का युध्द क्या तुम्हारे लिये इस जन्म का विस्मय है ? आश्चर्यकारक है क्या ? यह तो तुम एक दूसरों के लिये नित्य ही निमित्त मात्र ही हैं ।।२५।।

व्याख्या : स्वभावजन्य कर्तव्य की महत्ता सर्वथा स्वीकार करने योग्य है। वह कर्तव्य स्वधर्मानुष्ठान होता है। उसकी अपनी स्थिति सदा के लिये बनी रही है। उसे पहचानना आवश्यक है।

मनुष्य की देह सभी हंडियो का अनोखा आविष्कार है। वहाँ देवत्व देहबुध्दि में कदापि नहीं। देह में आत्मत्व की आभा महत्त्व की। वही पूर्णता का–परमात्मस्वरूप का अधिष्ठान है। देहभावना, देहबुध्दि आदमी को ऊपरी बातों से परिचित कराती है न कि आत्मा की। इस देहधारणा के द्वारा हम अपने

आपका प्रमाण, अपनी धारणा का धारक आजमाते हैं। जो मूलत: देहाधीन, देहयुक्त है वह सब नाशवन्त है। सब माया है। अत: यहाँ का नूतनत्व आत्म लक्ष्मी है। यहाँ जो जन्मते हैं वे मरते हैं ही। विनाश का पथ नया जीवन देता है यहाँ! जीवन नया हो सकता है फिर भी वह आत्मतत्त्व सनातन है और नित्यनूतन भी। जीवन का नयापन देहधारणा की नूतनता पर अवलंबित है। जीव अज्ञानवश देहबुध्दि अपनाता है, भूलता है। देह धारणा के तत्त्व उसके लिये महत्त्वपूर्ण लगते हैं। नयी उमंग पैदा होती है, नयी अनुभूति पायी जाती है। फिर भी वहाँ आत्मसत्ता का उजियाला नहीं रहता! वृत्तियों की नूतनता भी पुरानी हो जाती है। यह खेल सचमुच प्यासा बनाता है। प्यास बूझती ही नहीं। मनुष्य जन्म ही एक ऐसा है जहाँ उस सत्ता का साक्षात्कार संभव है। वह आत्मसत्ता सुस्थिर, सनातन है। उसका नयापन भी सनातन है। यहाँ अचरज किस बातपर हो रहा है?

स्वधर्म की धारणा उसी सत्ता का स्पर्श करने के लिये है। उसके द्वारा कर्तव्यानुष्ठान का जो संकेत है वह ऊपरी आडंबर से मुक्त होने के लियेही है। यहाँ विरक्ति पनपती है। सूद हट जाता है और मूल पाया जाता है। अत: कर्तव्य की नितरां आवश्यकता रहती है। कर्तव्य न करने से लाभ तो होगा ही नहीं। मनुष्य जन्म में यह संभव है कि कर्तव्यानुष्ठान का बोध हो। उस सनातन आत्मसत्ता का साक्षात्कार हो।

वह सच्ची आत्मसत्ता ही सच्ची है। पूरी सचाई है। सबके

पहले वह है, बादमें भी होगी। उसकी विद्यमानता बाधित नहीं हुई। न कोई बाधित कर सकता है। अत: उसीमें स्थिर होना सर्वथा उचित है। उसकी नूतनता अनुभव करने योग्य है। वही कर्तव्यकर्मानुष्ठान के द्वारा देह को नूतनता का प्रत्यय देती है। इससे 'रंजन' उपलब्ध है, 'आनंद' मोदमयी है। अत: साक्षात्कार के पहले तथा पश्चात् भी कर्तव्यानुष्ठान, स्वधर्मयज्ञ का यजन जीवभाव को सदा के लिये स्वीकार्य है।

यह युद्ध भी नया नहीं। उस के बारे में अचरज की बात ही क्या ? कर्तव्यानुष्ठान एक दूसरे पर जरूर असर करता है। युद्ध स्वभावसिद्ध साधना है। क्षात्रधर्म का अनुष्ठान तुम्हारे लिये नया नहीं। यहाँ निमित्त होकर जूझना पडता है। अत: केवल कर्तव्य की भावनासे, विरक्त होकर ही अपने कर्तव्ययज्ञ में आहुति देने को तत्पर हो जाओ ।।२५।।

तरि आतां काई जालें। कायि स्नेह उपनलें।
हें नेणिजे परि कुडें केलें। अर्जुना तुवां ।।२६।।

अर्थ : फिर अब यह क्या हो रहा है ? किस प्रकार यह स्नेह निर्माण हुआ ? कुछ भी समझा नहीं जाता। हे अर्जुन ! तुमने यह अच्छा नहीं किया २६।।

व्याख्या : हे अर्जुन ! तुम्हें यह क्या हो रहा है ? कुछ समझ नहीं सकता। यह कैसा स्नेह है ? किस कारण इतना बुरा असर दिखाई दे रहा है ? तुम अपने स्वधर्म को छोडकर, क्षात्रवृत्ति को त्याग कर, अपनी स्वाभाविकता खो कर क्या

कर रहे हो ? इससे लाभ क्या ? तुम सचमुच क्या खो गये हो ? तुम्हारे मन की यह व्यग्रता, वक्रता किस कारण है ? तुम्हारा इस प्रकार रोना क्यों कर है ? बिलकुल बच्चे जैसी बात कर रहे हो । हठी बालक के मन में अगर किसी चीज के बारे में लोभ पैदा हुआ कि वह दूसरी बात सुनता ही नहीं । वह एकही रट लगाता है । अमुक चीज चाहिये । उसका हठ पूरा करनाही पडता है । वह और कुछ सुनता नहीं । रोता रहता है, आक्रोश करता है और हठ पूरा कर लेता है । बात तुम्हारे बारे में भी वही है । तुम तो उसी धुन में पडे हो । तुम्हारा मन तडपता है, आँखें डबडबा रही हैं । यह तुम क्या कर रहे हो ? तुम्हें किस प्रकार समझा दूँ ? मैं सचमुच अचरज में हूँ ।।२६।।

मोहो धरलिया ऐसें होइल । जे असती प्रतिष्ठा जाईल ।
आणि परलोकही अंतरेल । ऐहिकेंसीं ।। २७ ।।

अर्थ : इस प्रकार मोहग्रस्त होनेसे जो अब तक की प्रतिष्ठा है वह भी नष्ट होगी और इहलोक तथा परलोक (का कल्याण) भी दूर रहेगा ।।२७।।

व्याख्या : बहिर्गत प्राकृतिक सौंदर्य से मोहित होने से हानि के सिवा और कुछ भी प्राप्त नहीं । क्या चंद्रमा क्या सूरज दोनों के अंतस्थ तेज का स्वरूप, तथा उनका सौंदर्य वास्तव में आंतरिक ज्योति में है । तेजों का जो तेज है वह केवल परमात्म -तत्त्व के सिवा और कुछ नहीं । उस ओर नजर न होने से मांलिकता ही नष्ट हो जाती है । ऊपरी बातों का मोह सचमुच

प्राकृतिक है । ये राग-द्वेष तथा सभी प्रकार का द्वंद्व आत्मज्योति से अनभिज्ञ होनेही के कारण संभव है । हृदयस्थ 'नारायण' को तुम पहचानते नहीं । अन्दरसे ही कुछ खोया सा हो रहा है। अत: गौर से देख कि यह कैसा मोह है ? इस मोह का आधार देहबुद्धि है । वही बहिर्मुख वृत्ति से तुम्हारे कल्याण में रोडा अटकाती है । फँसा रही है । तुम तो उसकी बातो में आकर क्या पाओगे ? देह की इन्द्रियाँ आत्मबुद्धि को नष्ट कर देती हैं ।

ये गोत्रज तुम्हारी भूल पर हँस रहे हैं क्यों कि अब लाभ, जय उन्हीं का है । तुम्हारी देह फिर रहेगी कहाँ ? तुम्हारा अपना सब कुछ खो जायेगा । देह उनके हाथ रहेगी और तुम अपने को देहबुद्धि के व्यामोह में रहने दोगे । इस अवस्था में हे अर्जुन ! तुम सचमुच ठगे जाओगे ! तुम्हारी फजीहत पर कोई रोयेगा तक नहीं । तुम्हारी सारी प्रतिष्ठा, तेजस्विता धूल हो जायेगी । जरा अन्तर्मुख होकर सोचो ! तुम कौन हो ? तुम्हारी प्रतिष्ठा कैसी हैं ? तुम्हारा स्वधर्म क्या है ? क्षात्रधर्म छोडकर क्या लाभ ? तुम्हारे शौर्य के कारण, क्षात्रतेज के कारण तुम देवतासमान माने जाते हो । उसको झिडकारने से क्या लाभ होगा ? इससे तुम्हारी देहयात्रा सचमुच सफल नहीं होगी । शायद देह भी नहीं रहेगी । अत: सावधान हो जाओ । गौर से देखो । यह प्राकृतिक विधान, यह माया सचमुच दु:सह तथा दुर्लंघ्य है । अपने स्वत्व को, स्वधर्म को तथा कर्तव्यानुष्ठान को त्याग देनेसे पार होना बहुत कठीन है ।

तुम्हारा देवताभाव तुम्हारीही देहमें स्थित है । उस आत्मत्व

की उपलब्धि होने के लिये कर्तव्यानुष्ठान का, स्वधर्म का अनुशासन अत्यावश्यक है। तुम्हारा देवता, वह तेज इससे दूर हटेगा। ऐहिक संपन्नता, प्रतिष्ठा तथा क्षात्रधर्मोचित कर्मण्यता भी नहीं रहेगी। उसका अधिष्ठान सत्त्वसंपन्न होनेमें है। यह सत्त्व अग्नि का तेज है, ज्ञान की आभा है। सत्त्वोपासना के लिये स्वधर्म का अनुशासन अत्यावश्यक है। वह न होनेपर सत्त्वशुध्दि नहीं, सत्त्व की उपलब्धि भी नहीं। 'सत्त्व' के कारण ही यह देह देवताभाव को प्राप्त करती है। ऐहिकता तथा पारलौकिकता दोनों का आधार यही देह है कि जो अपने अनुष्ठान का सामर्थ्य, सत्त्व पैदा करती है। तुम्हारे व्यामोह के कारण वह देह भी जायेगी, धर्म भी न रहेगा और अप्रतिष्ठा खाली रहेगी। तुम सचमुच भूल रहे हो। अपने कर्तव्य को मत छोडो। क्षात्र धर्म का तेज प्रदीप्त रखो। अन्यथा सर्वस्व नष्ट होगा ।।२७।।

हृदयाचे ढिलेपण। येथे निकियास नव्हें कारण।
हें संग्रामीं पतन जाण। क्षत्रियांसी ।। २८ ।।

अर्थ : यहाँ मन की दया किसी भी प्रकार प्रशंसापात्र नहीं। युध्द में दयाभाव होना क्षत्रियों का पतन ही है—पराभव ही है।। २८ ।।

व्याख्या : इस समर प्रसंग में दयाभाव का प्रादुर्भाव कदापि प्रशंसनीय नहीं। इससे कुछ पुण्य तो प्राप्त नहीं होगा किंतु कर्तव्यच्युति के कारण पापही है। कर्तव्यभ्रष्ट आदमी का

ऐहिक जीवन क्या कभी संपन्न हो सकता है ? जहाँ ऐहिक यश नहीं, कर्तव्यच्युति है तथा स्वधर्मानुष्ठान का अभाव है वहाँ परलोक का यश कहाँ ? केवल अपायही संभव है। पारलौकिक कल्याण मनुष्य जीवन का परमोच्च पुरुषार्थ है। उसे प्राप्त करना हरेक का महान् ध्येय है। किंतु जब हम अपने स्वभाव सिध्द कर्तव्य को त्याग देते हैं तब न ऐहिक यश पाते हैं न पारलौकिक सिध्दि !! देहबुध्दि के भ्रम में केवल द्वंद्वात्मकता ही पनपती है। केवल अंतर्बाह्य संघर्ष रहता है कि जो देहको भी खिचातानी में ढकेलता है। मन विदीर्ण हो जाता है। तडपता रहता है। वहाँ असलियत तो कुछ नहीं। संघर्ष, द्वंद्व, प्यास, तडपन इन्हींमें डूबे हुअे मनुष्य को सुख कहाँ ? समाधान तथा शांति, उपशम तथा आनन्द कहाँ होंगे ! देहधारणा का मूल हेतुही जब खो जाता है तब केवल प्राकृतिक उल्हास के लिये तडपनेवाली देहबुध्दि मनुष्यता की, पुरुषार्थ सिद्धि की लगन ही नहीं रहने देती। वहाँ सुविधा कहाँ ? द्वंद्व, द्वेष, प्यास के संसार में आनन्द, प्रेम तथा शांति का साम्राज्य ढूँढना व्यर्थ की चेष्टा है। जो है वह अपनेमें ही है। ढूँढा जाता है किंतु पाया नहीं। मन विकल होकर आक्रोश करता है। यहा विकलता आदमी को हतबुद्धि बना देती है। कर्तव्य के प्रति व्यामोह इसी विकलता का एक परिणाम है। मोहग्रस्त व्यक्ति कर्तव्य को समझ नहीं सकती। अतः इस मोह को छोडो। अपने कर्तव्य को पहचानो।

क्षात्रधर्म के अनुसार युध्द प्रसंग में हृदय में दया होना

व्यर्थ है। वही दया तुम्हारे लिये अनर्थ होगी। तुम जिन्हें दयापात्र समझते हो वे तुम्हें मार डालने उत्सुक हैं। तुम अपना जीवनही खो डालोगे। अपनी महत्ता समझ लो। बडों को बच्चे जैसा बर्ताव शोभा नहीं देता। बडों की बुध्दि प्रगल्भ होनी चाहिये। वहाँ डर नहीं रहती। अगर बडे बुध्दि का वैभव नहीं पाते तो वे बालक जैसे ही हैं। फिर उनका महत्त्व कहाँ रहा? उसी प्रकार तुम्हारे लिये भी। अपनी बुध्दि हीन मत करो। क्षत्रियत्व को निभा लो। अपने क्षात्रतेज का पौरुष दिखला दो। यहाँ स्त्रैण जैसा बर्ताव हो तो फिर जीना किस लिये? अपनी महत्ता समझ लो। स्वभावसिद्ध कर्तव्यानुष्ठान के लिये कमर कस कर आगे बढो। इसीमें तुम्हारा हित है। यही एक मार्ग है कि जो सर्वथा कल्याण करेगा।।२८।।

ऐसेनि तो कृपावंतु। नानापरि असे सिकवितु।
हें ऐकोनि पांडुसुतु। काय बोले?।। २९ ।।

अर्थ: इस प्रकार कृपालु श्रीभगवान् अर्जुनजी को विविध प्रकार से समझाते हैं। उनका (कथन) सुनकर अर्जुनजी क्या पूछते हैं?।।२९।।

व्याख्या: इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णजी उसे विविध रूपसे समझाते रहे। उसे स्वधर्म के मार्गपर लाने को उद्युक्त हैं। बार बार उपदेश करते हैं और उचित मार्ग पर लाने का प्रयास करते हैं। उस कृपावंत श्री भगवान् से अर्जुनजी पूछने लगे हैं।।२९।।

अर्जुन उवाच –

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्थ : हे शत्रुघ्न मधुसूदन ! जिनकी पूजा करना (सेवा करना) हमारे लिये योग्य है (श्रेष्ठ कर्तव्य है), उन भीष्म तथा द्रोण पर युद्ध में शरों का प्रहार कैसे करूँ ? ॥ ४ ॥

देवा हें इतुलेंवरि । बोलावें न लगे अवधारीं ।
आधीं तूं चित्ति विचारीं । संग्राम हा । ३०॥

अर्थ : हे भगवान् ! आपका यह कथन क्यों कर आवश्यक है ? पहले आप अपने मन में इस संग्राम को समझ लीजिये । ॥ ३० ॥

व्याख्या : हे भगवन् ! आपने बहुत कुछ कहा । मेरे शैथिल्य पर खरी खरी सुनायी । वस्तुतः इसकी कतिपय आवश्यकता नहीं थी । क्षात्रधर्म को क्या मैं जानता नहीं ? किंतु यह समर प्रसंग बिलकुल विपरीत है । यह संघर्ष सचमुच बडी उलझन है । इस पहेली को मैं हल नहीं कर सकता । यह संग्राम क्या है ? विनाश की ओर ले जानेवाले इस संग्राम के द्वारा क्या पायेंगे । कुछ समझ नहीं पाता कि क्या करूँ ?

देह की स्थिरता आत्मबल पर स्थिर है । बुद्धि की मलिनता तथा अस्थिरता आंतरिक संघर्ष में और भी बढती है । यह संघर्ष मन के तनान को ही बढाता है । मन स्थिर नहीं । युद्ध

क्यों ? किसलिये ? कुछ समझ नहीं सकता ! ऐसी विचित्र स्थिति पैदा हुई है । यहाँ सामने जो खडे हैं उन्हें पहचानता हूँ और अपनी अहन्ता त्याग देता हूँ । पृथक्त्व रहताही नहीं । ये सभी मेरे अपनेही नहीं तो अपनेही अन्य रूप हैं । मेरी आत्मा तडपती है कि इन्हें कैसे मारुँ ? इस संग्राम को पार करना मेरे लिये दुरूह है ॥३०॥

हे झुंज नव्हे प्रमादु । येथें प्रवर्तलिया दिसतसे बाधु ।
हा उघड लिंग-भेदु । वोडवला आम्हां ॥ ३१ ॥

अर्थ : क्या वह युद्ध है ? नहीं, प्रमादही है । युध्द करने से सचमुच पाप ही पाया जायेगा । यह स्पष्ट है कि इससे पूजनीय (व्यक्तिओं का) पुरुषों का उच्छेद ही हमसे होगा ॥३१॥

व्याख्या : इसे हम युध्द किस प्रकार कहेंगे ? क्या यह खेल थोडाही है । यह खाली झगडा है जो केवल स्वार्थ के लिये है । स्वार्थांधता के कारण यह युध्द हो रहा है जो केवल प्रमादरूप है । पापों का प्रसार ही होगा । इससे सच्चे आत्महित को अपाय है । सच्चा स्वार्थ जो परमार्थ, वही बाधित होगा । पारलौकिक कल्याण का यह मार्ग कदापि नहीं हो सकता । यहाँ युध्द में बहुतसे ऐसे लोग मारे जायेंगे जो प्रतिष्ठा संपन्न हैं, जो हमारे लिये पूजनीय हैं । उनका उच्छेद करना पापों का बोझ ढोना ही होगा । यह हिंसा है जो सर्वथा अनिष्ट, पाप मय है । सच्चे धर्म से खाली केवल स्वार्थांधता के प्रभाव से यह हो रहा है । अतः मेरा मन दुविधा में पडा है ।

हे भगवन् ! मैं सचमुच कुछ नहीं समझता । समूचा विश्व उस अविनाशी परमात्मस्वरूप की व्याप्ति है । जहाँ आत्मरूप है वहाँ आनन्द है ही । आत्मीयता का आनन्द भी स्थिर, अविनाशी है । उस आनन्द को, उस परमात्मस्वरूप को केवल स्वर्थांधता के कारण काट कर, उन के टुकडे बनाकर, हिंसा करके अपने लिये भोग्य बना देना निःसंशय अनुचित होगा । हम आनन्द चाहते हैं, दूसरों को मारकर । राज्य चाहते हैं उन्हें नष्ट कर । यह सब स्वार्थ है जो परतत्त्व के पावन अस्तित्व को, उसके आनन्द को विभाजित करता है ।

आपका कहना होगा कि जो नित्य स्वरूप, ज्ञानघन, आनंदमय आत्मतत्त्व मुझ में है वह उसी परमात्मतत्त्व का ही अंश है । उसी पर ही जगत् का आविर्भाव तथा विकास और विनाश निर्भर है । अतः मूल में जो स्थायी, अविनाशी अमरतत्त्व है उसकाही साक्षात्कार महत्त्व का है । जो ऊपरी विकार होते हैं–जन्म तथा जीवन और मृत्यु–वे दुर्लक्षणीय हैं । इस आत्मस्वरूप काही अनुभव करना योग्य है । जो मायिक, अनित्य, क्षर हैं उन्हें देखना अनावश्यक है । इस संसार में सुख है कहाँ ? विषयों का सुख क्षणिक है । जो परमात्मसुख है वही स्वीकार्य है, ज्ञेय है तथा सत्य भी । इस प्रकार आपका ही कथन है । फिर भी आप पापयुक्त स्वार्थी संघर्ष में जूझने को कैसे कहते हैं ? आत्मनिष्ठा को छोडकर और कैसा धर्म बतलाते हैं ? केवल परमात्मवस्तु ही महत्त्वकी, फिर पारलौकिक कल्याण क्या दूर है ? उसे कौन बाधित करता है ? फिर यह पूजनीय लोगों का

उच्छेद करवाने में आप क्या चाहते हैं, मैं सचमुच समझ नहीं सकता ।। ३१ ।।

देखें मातापितरें अर्चिजेति । जे सर्वस्वें तोष पाविजंति ।
तियें पाठीं केविं वधिजेति । आपुल्या हातीं ।।३२।।

अर्थ : यह देखें कि माता पिता सदा के लिये वंदनीय, पूजनीय हैं । उनकी पूजा–अर्चा (सेवा) करके उन्हें पूरा सन्तोष दिलाना चाहिये । फिर क्या उन्हें अपने हाथों पश्चात् मार डालना उचित है ? ।।३२।।

व्याख्या : इस जगत् में "न मातुः परदैवतम्" । माता तथा पिता पुत्र के लिये सर्वथा पूजनीय हैं । उनकी सेवा कर के उन्हें संतोष दिलाना हरेक पुत्र का कर्तव्य है । उन्हें संतोष होने से हमें भी संतोष प्राप्त होता है । मातृ–पितृ सेवा मनुष्य को नित्य तुष्टी, शांति दिलाती है । यह संतोष निःसंशय आत्मिक आनन्द से कम नहीं । जिनकी हम पूजा करते हैं, जिनकी सेवासे अपरिमित सन्तोष प्राप्त होता है उन्हें क्या अपने हाथों मार डालना उचित है ? जिनके कारण हित–कल्याण–प्राप्त होता है, उन्हें ही किसी निमित्त से, संग्राम के धर्म का बहाना करके नष्ट करना, मार डालना कहाँ तक उचित होगा ?

जिस प्रकार नारी पुरुष की अहंता को पूरी तरह पिघला कर, उसके विकीर्ण मन को–विकारवश मन को पूरी तरह बधीर कर के अपने विषयोपभोग के योग्य बना देती है, उसी

प्रकार बहिर्मुखता की प्रवृत्ति भी आदमी को अंतर्साक्षित्व की भावना से वञ्चित रखती है। अत: प्राकृतिक गुण तथा कर्म बहिर्मुख वृत्तियों के कारण जरूर होते हैं किंतु वहाँ आत्मीयता की अंतर्साक्ष हो तो प्राकृतिक गुण—कर्म दिव्य बन जाते हैं, वहाँ उनके विकारों का लय होता है और वेही कर्म सचमुच दिव्यार्चन बन जाते हैं। फिर वहाँ मृत्यु या वध होंही नहीं सकता। जो कुछ होता है वह आत्मतत्त्व काही पूजन भोगबल द्वारा, कर्मों द्वारा होता है। वहाँ न कोई मरता हैं, न कोई किसका वध करता है। वहाँ विषयोपभोग कभी अनश्वर, अनियंत्रित नहीं रहता किंतु आत्मीयता के कारण आत्मभाव में विकसित होता है, एक प्रकार पूजन, अर्चन ही है। यह संयम संतोष—सुख का स्रोत है।।३२।।

देवा संत-वृंद नमस्कारिजे। कां घडे तरी पूजिजे।
हें वांचूनि केवीं निंदिजे। स्वयें वाचा ।।३३।।

अर्थ : हे देवाधिदेव ! संतो को वन्दन करना चाहिये। हो सके तो उनकी पूजा करनी चाहिये। यह छोडकर क्या अपनीही वाणीद्वारा उनकी निंदा करना उचित होगा ? ।।३३।।

व्याख्या : हे भगवन् ! यह तों सर्वमान्य है कि संतों का आदर करना चाहिये। उनको वन्दन करना चाहिये। हों सके तो उनकी पूजा भी करनी चाहिये। किंतु यह व्यवहार छोडकर उनकी निंदा करना क्या योग्य है ? अपनी वाणी की ही वह विटंबना है। संतों की निंदा करने से क्या वे दूषित होंगे ?

निंदकही निंदनीय हो जायेगा।

यहाँ और एक विचार व्यक्त होगा। वाणी का व्यवहार शब्दों द्वारा ही होता है। संत साक्षात् 'ब्रह्म' हैं उनके संबंध में जो भी कुछ कहा जाय वह सर्वथा अव्याप्त दोष से भरा हुआ होगा। ब्रह्म तो स्वयं अनिर्वचनीय! उसके संकेत शब्दों द्वारा किये जाते हैं किंतु वह स्तुति भी निंदा बन जाती है। उसी प्रकार संतों के बारे में कुछ कहते नहीं बनता। हम जो कुछ कहें वह निंदा के समानही होगा। अत: उनकी पूजा करना, उनको वंदन करनाही एक मात्र उचित बात है। इस प्रकार न बोलते हुए अपना आदर व्यक्त करने के लिये वंदन ही महत्त्व का है। देवताभाव सचमुच अनिर्वाच्य है। शब्दों से परे होकर ही वह स्वीकृत होता है। अत: मौन होकर अंतर्साक्षी रहना तथा संतों को वंदन करना ही एकमात्र कर्तव्य प्रत्यक्ष होता है ।। ३३ ।।

> तैसे गोत्र गुरु आमुचे। हे पूजनीय आम्हां नेमाचे।
> मज बहुत भीष्मद्रोणांचे। वर्तत असे ।। ३४ ।।

अर्थ : ये हमारे गोत्र-गुरु सदा के लिये हमें पूजनीय हैं। भीष्म तथा द्रोण के बारे में मुझ में बहुतही (आदर) है ।।३४।।

व्याख्या : श्रीगुरु की विद्यमानता सर्वथा अतीव पवित्र तथा वरदायी है। उनके यमनियमादि तप तथा अनुष्ठान के कारण उन्हें सचमुच गुरुत्व तथा देवताभाव प्राप्त है। उनकी पूजा करना हमारा कर्तव्य ही है। हमारे शरीर में उन्हींके

कारण ज्ञानधारणा है। विद्या की उपासना है। विद्या, ज्ञान, तप आदि का अनुष्ठान मनुष्य जीवन की चरितार्थता है, जो केवल कुलगुरु की कृपा का ही परिणाम है। उनके आशीर्वाद मेरी देह का सच्चा पोषण है। उनका अस्तित्व नष्ट कर देनेसे मैं आशीर्वाद कहाँ से पा सकता हूँ! उन्हीं के द्वारा मेरी देह तथा बुद्धि परिपुष्ट हैं, तेजस्वी बन चुकी हैं। तिस पर भी इस युद्ध प्रसंग में क्या उनकी हत्या करना उचित है? भीष्म, द्रोण दोनों महान् आचार्य, हमारे कुलगुरु क्या उन्हीं का ही यह ऋण नहीं कि जो मुझमें, मेरे रूपमें है? ॥३४॥

जयां लागीं मने विरू। आम्ही स्वप्नीं ही न शकों धरूं।
तयां प्रत्यक्ष केवीं करूं। घात देवा ॥ ३५ ॥

अर्थ: जिनके संबध में हम मनसे, स्वप्न में भी वैर नहीं कर सकते, क्या उन्हें, हे देवाधिदेव, हम प्रत्यक्ष मार डाल सकते हैं? ।३५॥

व्याख्या: इनके संबंध में वैर भाव कैसे संभव है? मन में भी शत्रुत्व निर्माण नहीं होगा। स्वप्न में भी उनके वैरत्व की भावना नहीं। फिर प्रत्यक्ष में उनके साथ युद्ध करना, उन्हें नष्ट करना मेरे लिये कैसे संभव है? आपही कहिये कि क्या उन्हें मारना उचित होगा? मुझसे तो यह हो ही नहीं सकता ॥३५॥

वर जळों हें जियालें। येथ अवघेयांसि हें काय जालें।
जे यांच्या वधीं अभ्यासिलें। मिरविजे आम्ही ।३६॥

अर्थ: यह मेरा जीवन ही नष्ट हो जाय तो ठीक। यहाँ

इन्हें क्या होता है ? इनसे जो कुछ सीखा, उससे ही उन्हें मार कर क्या हम भूषित होंगे ? ।।३६।।

व्याख्या : हे भगवन् ! आपही कहिये कि उन्हें मारने की अपेक्षा स्वयं मर जाना ही क्या उचित नहीं ? यह मेरी देह उन्हीं की कृपा । उन्होने मुझे सिखाया, ज्ञानदान किया । मेरी देह में उनका ही सब कुछ वर्तमान है । उनके द्वारा जो कुछ सिखाया गया, जिनका मैंने उनके पास अभ्यास किया उस विद्या का उपयोग क्या उन्हें मारने के लिये करना उचित है ? फिर वह विद्या किस प्रकार विद्यमान रहेगी ? उनके अस्तित्व के ही कारण इस देहकी स्थिति, पोषण है । उनके आशीर्वाद तथा ज्ञान धन मेरे लिये सर्वदा मंगलकारी है । उन्हें कैसे मार सकता हूँ ? उन्हें मारने में उनकी ही विद्या का आभूषण क्या रहा ? यह सचमुच पराजय है । मेरी देह तो उनकी सेवा के लिये है न कि उनकी हत्या के लिये । वे तो यमनियमादि में देवतातुल्य हैं, उनकी विद्यमानता के लिये मुझे मरना पडा तो भी ठीक होगा ।। ३६ ।।

मी पार्थ द्रोणाचा केला । येणें धनुर्वेद मज दिधला ।
तेणें उपकारें काय ऊभारैला । वधीं तया तें ।।३७।।

अर्थ : मैं पार्थ जो हूँ, वह द्रोणाचार्यजी ने ही सिखाया हुआ है । आपने मुझे धनुर्वेद प्रदान किया । उनके इस उपकार के कारण मैं भूषण हुआ हूँ । तिसपर क्या मैं उन्हें मार डालूँ ? ।। ३७ ।।

व्याख्या : मेरे संपूर्ण जीवन में श्री द्रोणाचार्यजी को बडा ही स्थान है। आपही ने मुझे पढाकर प्रवीण कर दिया। आपकी मुझपर अनन्य साधारण कृपा है। श्रीगुरु पहले सिंह राशी में प्रविष्ट होते हैं जहाँ पौरुष तथा पराक्रम की पराकाष्ठा अनुभव की जाती है। जो सामर्थ्य से संपन्न है वही कृपा कर सकता है। कृपा की पात्रता समर्थ व्यक्तियों में है। कृपा, दया आदि कोमल तथा करुणाघन भाव श्रीगुरु के ही अंत:करण में हो सकते हैं। अत: पौरुष तथा पराक्रम की प्रेरणा, दिव्य जीवन की कल्याणकारिता तथा ऐहिक और पारलौकिक संपन्नता का स्रोत बहा देनेके पश्चात् वही सिंहस्थ गुरु अपने शिष्य के लिये मानो 'कन्या' गत होता है। करुणा से ओतप्रोत होकर शिष्य की जीवनी में अनन्य साधारण चरित्र निर्माण कर देता है। सच्चे पुरुषार्थ का साक्षात्कार तभी संभव है। आचार्यजी ने मुझपर अपार कृपा की। धनुर्वेद के रूपमें आपने अपना सर्वस्व मुझे दे दिया। यह विद्यारूप कन्या प्रदान की। मुझे आपने समान योग्यता प्राप्त करा दी। आपका कर्तृत्व विलक्षण है। क्या मैं यह कह सकता हूँ कि मैं उनसे भी बढचढकर हूँ? शिष्य से पराभूत होनेमें श्रीगुरु की ही श्रेष्ठता है न कि शिष्य की। क्या शिष्य कभी श्रीगुरुपर उपकार करने योग्य है? यह वदतोव्याघात् है। सर्वत्र श्रीगुरु काही ऐश्वर्य है, वही एकमेव गौरव है जो आत्मलक्षी भी हो सकता है। जिनकी कृपा के कारण धनुर्वेद में अवगाहन कर सका, उनके उपकार कैसे भूल सकता हूँ? उनका वध कर के क्या मैं उन्हें 'अपना' समझ सकता

हूँ ? 'श्रीगुरु का वध करने में शिष्य के लिये क्या भलाई देगा ? फिर शिष्य कैसे रहा ? वाणी का यह दुर्विलास है। शब्द निर्बल हैं, विफल हैं। अत: केवल शब्दो की निरर्थक बकवास में जीवन की उदात्तता संभव नहीं। यह वह रास्ता नहीं जो सर्वमान्य तथा नि:श्रेयस् देनेवाला हो। इसीलिये यहाँ आप शब्दों का अवगुंठन लेकर कुछ न कुछ करने को उद्युक्त कर रहे हैं जो मुझसे हो नहीं सकता ।।३७।।

जेथिंचिया कृपा लाभिजे वरू। तेथें मी मनें व्यभिचारूं।
तरी काय मी भस्मासुरू। अर्जुन म्हणे ।। ३८ ।।

अर्थ : जिनकी कृपा होने के कारण वर प्रदान होता है, उनके बारे में क्या मैं मन से व्यभिचार कर सकता हूँ ? अर्जुनजी कहते हैं कि ऐसा (कृतघ्न) व्यवहार करने को मैं क्या भस्मासुर हूँ ? ।। ३८ ।।

व्याख्या : यह सचमुच विपरीत होगा कि द्रोणाचार्य के साथ मैं युद्ध करूं। भस्मासुर ने श्री भगवान् शंकरजी से वर पाया। उनकी कृपा के कारणही वह अपनी तपस्या सफल करके वर पा सका। पश्चात् उसकी बुध्दि ने पलटी खायी और कृतघ्न होकर वह उन्हें मारने को उद्युक्त हुआ। उसका यह व्यभिचार कहाँ तक समर्थनीय है ? आचार्य जी के साथ मनसे भी व्यभिचार करना मेरे लिये सर्वथा असंभव है। मैं भस्मासुर नहीं हो सकता।

आचार्य श्री की कृपा के कारण ही मुझ में यह दिव्य तेज अवतीर्ण हो सका। उन्हीं की कृपा से ही धनुर्वेद की गहराई अनुभूत हो सकी। फिर मैं क्या उनके विरोध में, उनसे शत्रुत्व कर के व्यभिचारी बन जाऊँ? उन का वध करके मैं क्या पाऊंगा? 'उनकी देह तथा आत्मा अलग है' यह कथन शायद आपके लिए सही होगा किंतु मेरे लिए उनकी देहधारणा निरापद श्रद्धास्थान है। उनकी देह तथा आत्मा भिन्न नहीं। 'देह नष्ट होनेसे आत्मा बनी रहती है' वगैरह कह कर अपने गुरु की हत्या का समर्थन मुझे कभी मान्य नहीं। मैं कदापि भस्मासुर जैसा बर्ताव नहीं करूँगा ॥३८॥

गुरूनहत्त्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव । भुंजीय भोगान् रुधिर प्रदिग्धान् ॥
॥ ५ ॥

अर्थ : जो पूजनीय तथा महानुभाव हैं ऐसे गुरुजनों का वध न करके (उनका महत्व, 'महत् तत्त्व' के समान होने से उनके गुण वृद्धिगत होने देनाही उचित है) इस मर्त्यजगत् में भिक्षान्न भी मुझे अधिक प्रिय है। प्रत्युत् वंदनीय गुरुजनों का वध करके स्वार्थ की ही इच्छासे प्राप्त उनके रुधिर से लांछित उपभोग ही मुझे स्वीकारने पडेंगे ॥ ५॥

देवा समुद्र गंभीर आइकिजे । वरी तोहि आहाच देखिजे ।
परि क्षोभ मनिं नेणिजे । द्रोणाचिये ॥ ३९ ॥

अर्थ : हे भगवन् ! समुद्र की गंभीरता खूब सुनी है फिर

भी वह क्षुब्ध होता ही है। किंतु आचार्य द्रोण कभी मनमें भी क्षुब्ध नहीं हुए ।।३९।।

व्याख्या : श्री द्रोणाचार्य की विशेषता क्या कहूँ ? समुद्र की गहराई तो खूब कही जाती है। उसकी गंभीरता मनपर जरूर असर करती है। प्रसंग आनेपर, आँधी उठनेपर वह भी क्षुब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि उसकी गंभीरता ऊपरी है। स्वभावसे गंभीर होना कुछ अलग बात है। समुद्र की मुद्रा गंभीर होनेपर भी वह उछलता है। उसकी लहरें उसका क्रुद्ध स्वरूप समझाती हैं। किंतु आचार्य श्री की गंभीरता स्वाभाविक है। सहजसिद्ध है। किसी भी कारण आप के मन में हमने क्षुब्धता नहीं देखी। वे कभी क्रुद्ध नहीं हुए। ऐसे स्वभावगंभीर आचार्यश्री के बारेमें मेरे मनमें परमोच्च आदर का स्थान है ।३९।

हें अपार जें गगन। वर तयाहि होईल मान।
परि अगाध भलें गहन। हृदय याचें ।।४०।।

अर्थ : यह आकाश सचमुच अपार है किंतु उसकी भी (गिनती हो सकती है) सीमा है। किंतु द्रोणाचार्यजी का हृदय सचमुच अगाध, असीम है, सचमुच गहन है। ४०।।

व्याख्या : आपका ही हृदय सचमुच गंभीर है। उसकी कोई थाह नहीं ले सकता। आकाश की गंभीरता, अपारता सर्वमान्य है किंतु उसको भी कुछ सीमा है। आकाश तत्त्व व्यापक होनेपर भी उसकी व्यापकता, विशालता सीमित हो

जाती है। उसे सीमित करनेवाला और तत्त्व है ही। किंतु आचार्य श्री का हृदय वैसा नहीं। उनका हृदयाकाश सचमुच असीम है ॥४०॥

वरि अमृतहि विटे। कां (कीं) काळवशें वज्र फुटे।
परी मनोधर्म न लोटे। विकरविलाही ॥ ४१ ॥

अर्थ : अमृत भी किसी समय बासी हो जायेगा। वज्र भी टूट जायेगा किंतु मनोधर्म विकृत करने का प्रयास करनेपर भी नहीं बदलेगा ॥ ४१ ॥

व्याख्या : संभव है कि अमृत भी बासी होकर बिघड जायेगा। उसका अमृतत्त्व का धर्म नष्ट होगा। कालवज्र जैसा अटूट शस्त्र भी किसी समय टूट फूट जायेगा। किंतु वहाँ मनोधर्म इतना दृढ है कि प्रयत्न करनेपर भी वह बदला नहीं जाता। उसकी दृढता वैसी बनी रहती है ॥४१॥

स्नेहालागीं मायें। म्हणिपें तें कीर होये।
परि कृपा ते मूर्त आहे। द्रोणाचिये (द्रोणीं इये) ॥३४॥

अर्थ : बच्चे के प्रति स्नेह होने से माँ बच्चा जो चाहता है वही होकर रहती है। किंतु आचार्य द्रोण मूर्तिमंत कृपा हैं ॥४२॥

व्याख्या : आचार्यश्री साकार कृपा हैं। उनका हृदय कृपा से ओत प्रोत है। उन की कृपा निर्हेतुक है। वे केवल 'कृपा' हैं। माँ का स्नेह बच्चे से होता है। बच्चे के लिए वह सब कुछ करती है। बच्चा जो कुछ उसे माँगता है, वह देनेको उत्सुक

रहती है। वह उससे जो कुछ कहता है, वही बनकर रहती है। यहाँ स्नेह का ही बन्धन है जो माँ को अपने बच्चे के बारे में कोमल बना देता है। आचार्य श्री की कृपा सचमुच निर्हेतुक है। वह सभी के लिए समान रूप में है ।।४२।।

हा कारुण्याची आदि। सकल गुणांचा निधि।
विद्यासिंधु निरवधि। अर्जुन म्हणे ।। ४२ ।।

अर्थ : अर्जुनजी कहते हैं कि आप करुणावृत्ति का मूलस्रोत हैं। सभी गुणों का निधान हैं। आप विद्या का अपार समुद्र हैं। ।। ४३ ।।

व्याख्या : सभी 'करुण रस' की 'करुणा' द्रोणाचार्य से ही मानो निकलती है। करुणावृत्ति का उगमस्थान आप हैं। कोमलता की गुणसमृद्धि आपही में है। गुणों का सचमुच महानिधी अन्यत्र कहाँ है? द्रोणाचार्य गुणों की ही महति है। श्री अर्जुन कहते हैं कि विद्याओं की मर्यादा आचार्यश्री है। यों तो आप विद्या का असीम सागर हैं ।।४३।।

हा येणें मानें महन्तु। वरि आम्हां लागीं कृपावन्तु।
आतां सांग पां येथें घातु। चिंतु येईल ।। ४४ ।।

अर्थ : इस प्रकार आचार्य श्री सच्चे महन्त हैं। तिस पर वे हम पर असीम कृपा करते हैं। फिर क्या हम उनके वध की इच्छा भी कर सकते हैं? ।।४४।।

व्याख्या : इन्हीं कारणों से श्री द्रोणाचार्य सच्चे महन्त हैं,

सच्चे सन्तप्रवर हैं। आपका महत्तप वस्तुत: पूजन करने योग्य है। सन्तों का गौरव आपके रूप में है। आपकी हमपर अपार कृपा है। आपका कृपादानछत्र सचमुच हम लोगों पर विशेष रूपमें है। अब हे भगवन् ! आपही कहें कि क्या उनके वध की इच्छा हमारे सपने में भी संभव है ? मनसे भी तो कदापि नहीं किंतु सपने में भी असंभव है ॥४४॥

ऐसें हे रणीं वधावें। मग आपण राज्यसुख भोगावें।
तें नये मना आघवें। जीवितेंसि ॥४५॥

अर्थ : ऐसे जो' उनका रण में वध करके, राज्यसुख स्वीकार करना' मुझे, मेरे मनको प्राण जाये तो भी कभी भायेगा नहीं। ॥ ४५ ॥

व्याख्या : इस प्रकार जो सर्वथा श्रेष्ठ हैं, जिनका जीवन हमारे लिये सदाही पोषक रहा है, उन्हें युद्ध में मार डालना मुझे कैसे भायेगा ? मेरा मन यह कदापि नहीं चाहेगा, फिर प्राण चले जाये। उनकी देहधारणा हमारे लिए चिरंतन ज्ञानदीप्ति है। उसकी प्रकाशरेखा तक हमारे जीवन को उज्ज्वल बना देगी। अपने संपूर्ण सुखोपभोग आचार्यश्री के चरणों में समर्पित करना परम धर्म है। प्रत्युत् स्वार्थ के कारण उनकी हत्या करके अपने लिये राज्यसुख का उपभोग लेना सर्वथा त्याज्य है। मेरा मन इस बात को कभी स्वीकार नहीं करना ॥४५॥

हें येणें मानें दुर्धर (दुर्भर)। जे याहीहूनि भोग सधर।
ते असोन येथें वर। भिक्षा मागतां भली ॥४६॥

अर्थ : इस प्रकार प्राप्त होनेवाले ये भोग सचमुच अनिष्ट,

अस्वीकार्य हैं। इतनाही क्या इनसे बढकर भी भोग प्राप्त हो जायेंगे तो भी, उनसे भीक्षा माँग कर जीविका चलाना अच्छा है। (किंतु आचार्य श्री को मार कर किसी भी प्रकार वे स्वीकार्य नहीं हो सकते, स्वीकार करने योग्य नहीं ।। ।।४६।।

व्याख्या : राज्य सुखोपभोग या अन्य इसी प्रकार के उपभोग कि जो आचार्यश्री की हत्या के बाद प्राप्त होंगे, वे सर्वथा अनिष्ट हैं, अस्वीकार्य हैं। यहाँ उपभोग की केवल अभिलाषा है। अभिलाष की वृत्ति जीवित की सफलता पनपने नहीं देती। अपनी अभिलाषा के लिए, स्वार्थ हेतु से इनकी हत्या करने के बाद प्राप्त होनेवाले भोगों से बढकर भी कुछ भोंग प्राप्त होंगे तो भी आचार्यश्री की हत्या का विचार तक असंभव है। वह चाहे हमें स्वीकारने योग्य हों या न हों हम कभी स्वीकारेंगे नहीं। ऐसा करना याने अपने हाथों अपना जीवित नष्ट करना है। भोगलिप्सा का छंद मुझे भायेगा नहीं। उन भोगों को भी अपनी श्रेष्ठता दिखलादेना चाहिए। अतः हत्या से दूषित उन भोगों से अपना महत्त्व बढाने की इच्छा मुझ में तनिक भी नहीं। हे भगवन्, यह मुझसे नहीं होगा। उनकी हत्या करना मेरे लिए अति कठीन है। इससे भीक माँग कर रहना भी बेहतर है ।। ४६ ।।

नातरि देशत्यागें जाइजे । कां गिरिकंदर सेविजे ।
परि शस्त्र आता न धरिजे । ययांवरी ।।४७।।

अर्थ : अन्यथा हम देशत्याग करें, या गिरिकुहर में रहें

किंतु अब इन पर किसी भी प्रकार शस्त्राघात नहीं कर सकते ।
।। ४७ ।।

व्याख्या : इस प्रकार अपने जीवन का मूलाधार ही जिस कृतिसे विनष्ट होगा उसका क्या कुछ उपयोग है ? ऐसा अनिष्ट कर्म करने की अपेक्षा भिक्षा माँगकर निर्वाह करना क्या बुरा होगा ? क्यों कि यह भिक्षा भी ठीक किंतु वहाँ की हिंसा, वह स्वार्थ किस काम का ? उस में क्या पवित्रता, मौलिकता रहेगी ! केवल स्वार्थ वश ये मारकर उपभोग स्वीकार करने से क्या बडा आधार पाया जायेगा ? यह कौन धर्म है ? यह सचमुच अत्यन्त कठीन काम है । मेरे लिए तो सर्वथा अननुष्ठेय है । इस की अपेक्षा देशत्याग करना भी उचित होगा । अथवा हे भगवन्, जंगल में, पर्वत पर जाकर किसी गुहामें रहना भी अनुचित नहीं । वहाँ अपनेही योग में लीन रहते हुए जावन को सफलता परना योग्य होगा । वरन् यहाँ रहते हुए इन्हें नष्ट कर के उन सुखोपभोग की स्पृहा करना सर्वथा अनुचित है । क्यों कि केवल स्वार्थही इसके पीछे स्पष्ट है । इससे बढकर और कोई पाप नहीं होगा । अत: इस संदर्भमें मैं विवश हूँ । मैं कुछ नहीं कर सकता । मेरे मन में इस कर्तव्य के प्रति आलस्य कीही, उदासीनता भावना है और वह इतनी प्रभावकारी है कि हट नहीं सकती ।अत: इन भोगों को ही अपनानेके लिए प्रयत्न करके, उन्हें आधार देकर, उनकी लिप्सा में लिपटे रहने के लिए आचार्यश्री जैसे महानुभाव पर शस्त्राघात करने को उद्युक्त होना मुझे कदापि पसन्द नहीं । यह काम मुझसे नहीं हो सकता । अगर ये ही भोग उनकी हत्या किये बगैर प्राप्त

होंगे तो वे जरूर स्वीकार्य होंगे। उनके शब्द अपनी अर्थसिद्धता के कारण परमात्म प्राप्ति के साधन हो जायेंगे। शस्त्रोंका प्रहार न करते हुए शब्दों का आघात भी अपनी कुशलता के कारण पुरुषार्थ सिद्धि प्राप्त करा देता है। अत: शब्दोंसे ही उनकी आत्मोपलब्धि संभव है। निरर्थक बकवास से शब्द क्या काम आयेंगे ? अर्थ ही शब्द का सार है जो कि अनुभूति ला देता है। उसी प्रकार देह से परे होकर आत्मीयता का अनुभव करा देने के लिए शब्दसिद्धि महत्त्व की है न कि उनकी हत्या ।।४७।।

देवा नवनिशितीं शरीं। वावरोनि यांच्या जिव्हारीं।
भोग गिंवसावे रुधिरीं। बुडाले जे ।। ४८ ।।

अर्थ : हे भगवन्, तीक्षण अग्रवाले बाणों के द्वारा इनके मर्मस्थान पर आघात करके इनके रुधिर से प्लावित हुए भोगों का स्वीकार हम क्यों करें ? ।।४८।।

व्याख्या : जिनकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण है ऐसे बाणों के आघात इनके मर्मस्थल पर करना, उनकी हत्या करना, उनका रक्त बहाना और उससे भिगे हुए भोगों का अनुभव करना कहाँ तक उचित है ? उनके रक्त से लांछित हुए ये भोग वस्तुत: अपनी उपाधियों से लदे हुए, स्वार्थ से सने हुए ये भोग उनका रुधिर बहाने से और भी दूषित बन जाते हैं। उन से क्या लाभ ? जब श्रद्धादि भावों की गति रुद्ध होती है, सात्विकता संकुचित होती है तब रुधिररूप में उन्हें गति मिलती है। ये संस्कार आत्मग्लानि का, आत्मा के अनभिव्यक्ति का तामस उपचार है

जहाँ दोष के सिवा और कुछ नहीं। जो मूलतः कुछ हैही नहीं ऐसा जगत् तथा व्यवहार विवर्त के कारण सत्य हो जाता है। यही नहीं तो जगत्ही केवल सत्य माना जाता है। सुरानन्द में मग्न होनेवाला आदमी मद्य तथा मदिराक्षी के सिवा और कुछ नहीं चाहता। उसी प्रकार केवल सुखोपभोप की लिप्सा, आत्म-ग्लानि तथा विनाश के रास्तेपर ले जानेवाली है। मनुष्य का देवता भाव जागृत करने की अपेक्षा यहाँ आत्मग्लानि का संस्कार जगाने की चेष्टा करना तथा साधुओं के हृदयरूप मंदिर में आत्मराज का अधिष्ठान अनुभव करने की अपेक्षा उन्हें मार डालने की कोशिश करना, इन दोनों में क्या श्रेयस्कर है? दूसरी बात निःसंशय अनिष्ट, आत्मघात करनेवाली तथा पाप-युक्त है। हे भगवन् इस प्रकार अनुचित बर्ताव करना मुझे पसंद नहीं। उनके रुधिरों से लदे हुए भोग सर्वथा अस्वीकार्य हैं ॥ ४८ ॥

ते काढूनि काय कीजेति। लिप्त केंवि सेविजेति।
मज नये हे उपपत्ति। याचि लागीं ॥ ४९ ॥

अर्थ : ऐसे ये भोग निकालकर स्वीकारने से क्या होगा? ये रुधिरों से सने हुए दोषपूर्ण भोग किस प्रकार सेवन करना। इसी लिए मुझे इस संदर्भ में किसी भी प्रकार की उपपत्ति समझती नहीं ॥४९॥

व्याख्या : ये भोग सर्वथा दोषयुक्त होंगे। गुरु जनों के रुधिर से भीगे हुए इन भोगों से क्या खाक कल्याण होगा? ये

अनिष्ट भोग संसारार्णव की मायिकता का सर्वस्व ! संपूर्ण सामर्थ्य इन्हीं में छिपा हुआ । अनुचित भोग ही सँसार का बीज है । उनका स्वीकार क्यों करना ? उन भोगों का भान ही अलग । उनका स्वभाव संसार की आसक्ति है । ये भोग स्वीकारने के लिए किसी भी प्रकार से समर्थन करना भी कहाँ तक उचित है ? किसी भी प्रकार की उपपत्ति यहाँ सर्वथा वर्ज्यही समझनी चाहिए । उनके संस्कार मायिक, तथा माया को ही प्रसृत करनेवाले हैं । अत: उनका स्वीकार सर्वथा वर्ज्य है, त्याज्य है, अनुपयुक्त है । उनका कारण–कार्य आदि कुछ देखना तक आवश्यक नहीं । ऐसा निमित्तही नहीं हो सकता है कि जब उन्हें स्वीकार किया जाय ! अत: मैं कदापि स्वीकार नहीं करूँगा ।।४९।।

ऐसें अर्जुन तें अवसरीं । म्हणें श्रीकृष्णा अवधारीं ।
परि मना नयेचि श्रीमुरारि । आइकोनियां ।।५०।।

अर्थ : इस प्रकार श्री अर्जुनजी भगवान् श्रीकृष्णसे उस समय कह रहे हैं कि आप सुनिये । किंतु श्रीमुरारि भगवान् के मन को अर्जुनजी का कथन सुनकर भी पसन्द नहीं आया ।।५०।।

व्याख्या : श्री अर्जुनजी का यह कथन श्री भगवान् ने जरूर सुना । वह संपूर्ण कथन उस प्रसंग को अनुकूल नहीं था । अत: श्री मुरारी को भी मन से पसन्द नहीं था । श्री अर्जुनजी की बातें सचमुच अनुचित थीं । अत: उसका कथन भी एक प्रकार खुद को शरमाता रहा । जो मुर नामक दैत्य का शत्रु है और वह नाम भी धारण करता है, यह विलक्षण बात है । श्रीभगवान्

को उससे वैर होनेपर भी वे उसका नाम क्यों कर स्वीकारते हैं ? प्रसंगवश वैर होता ही है फिर भी आत्मीय ऐक्य नष्ट नहीं हो सकता। क्या यही सूचित है ?

श्री भगवानने अर्जुन की बात तो सुनी किंतु वे उसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? श्रीभगवान अपने को 'मुरारि' समझते हैं। वस्तुत: नामधारणा यह एक ऐसी बात है कि जो प्राकृतिक मायाविलास की निकृष्ट अवस्था को छोडकर अंतरंग में स्थित आत्मा की ओर संकेत करती है। 'नाम' का ऐसा कुछ भी लगाव देह से कहाँ हो सकता ? जो कुछ कहा जाता है वह देह को नहीं। देहबन्ध एक प्रकार उपाधी है। आत्मा की ओर लगाव रहने के ही कारण देह की धारणा है। यह धारणा सामर्थ्य न देह का है, न प्रकृति का। वह सचमुच आत्मलक्षी है। अत: अपनी योग्यता तथा सचाई का आविष्करण करने का यह प्रयास हो जाता है। अत: यह धारणा सामर्थ्यं हर व्यक्ति की भावना को आधार है। उसके भावों का, आत्मा की विद्यमानता का वह आधार है। इस सगुण धरा की प्रतिष्ठा परमात्मस्वरूप में ही है। किंतु प्राकृतिक विलास के कारण केवल गुणों के उत्कर्ष की अवस्था प्रतीत होती है। अत: नाम रूप का यह संकेत, यह नाद ब्रह्म जो सगुणता का सुसूक्ष्म किंतु प्रतीतिगम्य आविष्कार सर्वथा उपयुक्त हो जाता है। ब्रह्म की सत्ता का संकेत केवल शब्दों द्वारा ही कुछ हद तक हो सकता है किंतु पूरी मात्रा में करना केवल असंभव है।

जहाँ स्वामीत्व की भावना भी कभी स्वीकार्य नहीं होती,

मनुष्य की अहंता जहाँ नष्ट करने का ही हेतु रहता है, वहाँ केवल आत्मीयता का आविर्भाव है। मनुष्य के जन्म की चरम चरितार्थता इसी पुरुषार्थता में होने ही के कारण उस दृष्टि से जो प्रयास होंगे वे ही महत्त्व के रहते हैं। विकारों का वैचित्र्य सर्वथा अनिर्वाच्य है। माया का सामर्थ्य भी अगाध है। भिन्न भिन्न विकारों के वश होकर मनुष्य अपनी चरितार्थता खो देता है। माया का ही सामर्थ्य है कि जो मनुष्य को, उसकी अनिर्वचनीय आत्मा को 'नाम' देकर एक प्रकार निंदा करता है। मनुष्य में अन्तर्निहित चिनगारी सचमुच आत्मतेज की ही है। उसे क्या नाम हो सकता है? किंतु माया की उपाधी मनुष्य की आंतरिक एकता भुलाकर उसके अपने स्वार्थ के लिए तथा दूसरों के विनाश के लिए उद्युक्त करती है। मनुष्य की सफलता पाने का मार्ग ही कहीं खो जाता है। इस देह का हेतु ही दुर्लक्षित होता है। आँखें सचमुच अन्धी बन जाती हैं क्यों कि वे यह नहीं समझती कि यह सारा क्रम, प्रयास तथा झगडा क्यों कर है? केवल विवश बनकर अपने 'स्वार्थ काम' हेतु इस प्रकार विनाश के गर्त में ढकेल दिया जाता है। कर्मों का खयाल जरूर होना चाहिए किंतु कर्तव्याकर्तव्य के संबंध में पुरुषार्थ सिद्धि का अनवधान रहना कहाँ तक उचित है? यह कर्मसूत्ररूप नदी का उल्लंघन करने का जीवित हेतु भूलकर, ज्ञाननिधि रूप आचार्यश्री की योग्यता कम करने से लाभ क्या होगा? उनके विनाश को उद्युक्त करनेवाला विकार तथा विचार सर्वथा भयंकर, घोर तथा पापलिप्त हैं।

शब्दों द्वारा जो प्रतीत होता है वह अर्थ सचमुच आंतरिक अनुभूति का विषय है। उसे छोडकर शब्द निरर्थक हैं। अर्थका अवसान अनुभूति है। यहाँ आत्मानुभूति महत्त्वपूर्ण है और वह पाने के लिए कर्मबन्धन तथा विकारों के अधीन होकर किया हुआ कर्म सचमुच बन्धन होगा। नाम का सूत्र 'आत्मा' से संलग्न है। ये भिन्न भिन्न व्यक्ति होनेपर नामसूत्र से 'आत्मीय' वन जाते हैं। आत्मा की चिनगारी प्रज्वलित रहना महत्त्व की बात है। अन्य सभी कर्म किस काम के? जब बुद्धि अन्य व्यवसाय के कारण आत्मनिष्ठा नहीं जगाती तब उसके निश्चय को बिलकुल निरर्थकही कहना चाहिए। प्रकृति के अधीन हीन कर्मतंत्रो का विलास मायिक है न कि आत्मिक।

अत: जब यह आत्मनिष्ठा जागृत होती है, उसके अधीन होकर जब मनुष्य जीवित की सफलता चाहता है तब जीवभाव की अहंता पिघलने लगती है। उसे मानो डर पैदा होती है। यह नया रंग, नया संक्रमण पूर्णत: आंतरिक होता है जो जीवित का सारा स्वरूपही बदल डालता है। श्रीगणेशजी की यह कृपा है कि मूषकरूप माध्यम से, वाहन से वह विद्याधिदेवता कृपा करने को उत्सुक होता है। विद्या का अधिष्ठान केवल देखने से भी अनुभव किया जाता है। ॐकार स्वरूप श्रीगणेशजी निर्विघ्नतासे अपनी ध्वनिशक्ति से भी विषयों का विष नष्ट कर देते हैं। उनके शब्द उनके पुत्ररूप होकर प्रभावकारी हो जाते हैं जो समूचे जीवित को आत्मनिष्ठ बनाने में सहाय्यक होते हैं।

अब जो अपने स्वाध्याय में रहा है, जो साधना में लीन है

उसे श्रीगुरु, जिसकी कृपासे यह आत्मनिष्ठा सुस्थिर हुआ करती है, कर्मों के बीच इस प्रकार ढकेल देते हैं कि इससे मनुष्य की लिप्सा नष्ट हो जाय। उनके द्वारा बताये अनुष्ठान का असर जीवभाव पर निःसंशय हो जाता है। यह जीव शिव बनने को उत्सुक होता है। वह तो है ही फिर भी पहचान कहाँ रहती है? इसी लिये कर्मसाधना श्रीगुरु की ही उपासना है। वह अतिसुरम्य ऐसा कर्मतन्त्र श्रीगुरुकी ही कृपा समझो। वहाँ की श्रद्धा जननी का आशीर्वाद है, श्रीगुरु का सौभाग्यपूर्ण आशिश। वही प्रमाण। अन्य बातें बेकार हैं।

श्रीगुरु की कृपा इतनी प्रभावी है कि जीवभाव का भ्रम, उसका मायिक अहंकार झट से दूर हो जाता है। श्रीगुरु के रूप में ही मानो उस जगज्जननी की क्रीडा शुरू रहती है। विविध कर्मों के बीच तथा विविध कर्तव्यों के अनुष्ठान में उनका अपना विशिष्ट संकेत रहता ही है। वे ही सच्चे तारक हो सकते हैं। विश्वकी उत्पत्ति करने वाले माता–पिता के रूप में, या प्रकृति–पुरुष की क्रीडाविलास में हम सचमुच एकता काही अनुभव करते हैं। उनकी क्रीडा मनुष्य को इस प्रकार सचेत बना देती है कि जिससे वह कर्मों में रहकर भी कर्मों की फलाशा से लिप्त नहीं रहता। वे सहज ही कर्मों के आघात कर देते हैं, दुर्दैव के फंरे में ढकेलते हैं, सुख दुःख की द्वंद्वात्मक अनुभूति करा देते हैं और आखिर में यह भी स्पष्ट कराते हैं कि मनुष्य की देहधारणा कर्मों का उपभोग के लिए नहीं, तो पुरुषार्थ सिद्धि के लिए है। उनका यह कर्मतन्त्र सचमुच विलक्षण है।

कर्म की गति इसीलिए गहन है। पुरुषार्थ का संकेत होने के बाद मनुष्य को अपने प्राकृतिक विकारों तथा विचारों के झंझट में पड़ने के कारण शरम पैदा हो जाती है। यह पौरुष महत्त्व का है फिर प्राकृतिक आघात, दैन्य, भय, पराजय, जय, उल्हास आदि सभी बातें सर्वथा बेकार हैं। उनका महत्त्व न के बराबर है। अत: यहाँ स्वात्मबल, पौरुष या आत्मनिष्ठ स्वानुभवही महत्त्वपूर्ण है। उसकी योग्यता पाने का प्रयास ही कर्मों का अन्वयार्थ है।।५०।।

हें जाणोनि पार्थ भ्याला। मग पुनरपि बोलों लागला।
म्हणें देवो चित्त कां या बोला। देती चि ना ।।५१।।

अर्थ : यह जान कर पार्थ जी घबराये। फिर उन्होंने बोलना शुरु किया। श्रीभगवान् मेरे इस कथन की ओर ध्यान क्यों नहीं देते ? कुछ समझ नहीं सकता ।।५१।।

व्याख्या : वस्तुत: यह समरप्रसंग बहुतही घोर है। अतीव विनाशक है। यहाँ किसी भी व्यक्ति का मन जरूर भयभीत होगा। फिर पार्थ भी डर गया इसमें अचरज नहीं। जो कर्तव्य सामने उपस्थित है उसको निबाह लेना सचमुच कठीन बात है। अत: इस समस्या को हल करने का कुछ उपाय उसे सूझताही नहीं था। वह भगवान की ओर ताकता रहा। श्री भगवान् उसकी बात तो सुनते थे किंतु उनका उस ओर विशेष ध्यान नहीं था। ऐसा क्यों कर होता है यह समझ नहीं सकता था।
।। ५१ ।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो। यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-। स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।
।। ६ ।।

(१) हमारे लिए कौनसा कर्म श्रेयस्कर है, यह हम नहीं समझ सकते। शायद हम विजय पायेंगे, शायद वे हमें जीतेंगे। जिन्हें मारने के पश्चात् हमें जिजीविषा (जिंदे रहने की इच्छा) नहीं रहेगी, ऐसे ये कौरव हमारे सामने (युद्धार्थ) खडे हैं।

(२) हम पाण्डवों के लिए क्या अधिक श्रेयस्कर है, यह समझ नहीं सकते। हम शत्रुओं को जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे, कुछ समझता नहीं। जिन्हें मार डालने के पश्चात् हमें भी जिजीविषा नहीं रहेगी अैसे ये कौरव सामने खडे हैं।। ६ ।।

येऱ्हवीं माझ्या चित्ति जें होतें। तें मी विचारूनि बोलिलों येथें।
परि निकें काय यया परौतें। तें तुम्हीं जाणा।।५२।।

अर्थ : मेरे मनमें जो कुछ था वह विचारपूर्वक मैंने आपसे कहा फिरभी और कुछ इससे हितकारी हो तो कृपया आप ही उसका विचार कीजिए- ।।५२।।

व्याख्या : मेरे मनमें जो कुछ था वह तो मैंने स्पष्टता से कहा ही है। सत्य की शोभा तथा विवेक की भलाई जिसमें है ऐसा वक्तव्य केवल आपकोही संभव है। हे भगवन् आपही वह जान लीजिए। मेरी अल्पमति, बालबुद्धि अगर कुछ नये रूप को ग्रहण करेगी तो ठीक होगा। बुद्धि की शुद्धता तथा

उसकी आत्मनिष्ठा ऐसे प्रसंग में अतीव महत्त्व की है। आपही यह कर सकते हैं। अत: आप कृपा करके मुझसे जो कुछ करवाना हो, वह करवाइये ।।५२।।

पैं "वीरू" जयांसि आयकिजे। आणि या बोलींचि प्राण सांडिजें।
ते येथें संग्रामव्याजें। उभे आहाती ।। ५३ ।।

अर्थ : जिन से वैर करने की बात तक आतेही हम प्राण त्याग करें, अैसे ये इस समय युद्ध के निमित्त सामने खडे हैं। ।। ५३ ।।

व्याख्या : यहाँ 'वैर' अपने सर्वनाशक सामर्थ्य से खडा है। शत्रुत्व की भावना शत्रु को या शत्रुत्व करनेवाले को कभी मंगलकारी नहीं। शत्रुत्व का अर्थही विनाश के रास्ते जाना। जीवित का हरण यही उसका परिणाम है। 'वैर भाव' आत्म-निष्ठा का द्योतक नहीं हो सकता। आत्मीयता प्रेम को पनपती है तो यहाँ वैर विनाश को। जीवित की मानहानि यहाँ है। सामर्थ्यशून्य जीवन वैर तथा मत्सर की प्रेरणा देता है। जब तक आत्मबल का अनुभव नहीं किया जाता तब तक वैरत्व का व्यवहार है। आत्मबल की उपासना महत्वपूर्ण है। पुरुष जिस प्रकार प्रकृति से युक्त होना उचित है, शब्द जिस प्रकार अर्थसंयुत हो उसी प्रकार जीवित आत्मबल संपन्न होना चाहिए। अन्यथा वैर बढाने से आत्मबल की प्रतिष्ठा ही नष्ट हो जाती है। केवल विनाशही सामने होगा। प्राणों का मरण सामने है। कुछ सूझता नहीं। कृपया अवधान दीजिये और कहिये कि क्या

मार्ग है ? सामने योद्धा खडे हैं। कुछ उपाय सोचिये। इन से वैंर करने का विचार तक मुझे भायेगा नहीं। अैसे लोगों से 'वैंर' की बात करने की अपेक्षा मैं प्राणत्याग को भी तैयार हूँ ।। ५३ ।।

आतां एैसियांतें वधावें। कीं अव्हेरूनि निघावें।
या दोहीं माजीं काय करावें। तें नेणों आम्ही ।।५४।।

अर्थ : क्या इनका वध करना या दुर्लक्ष कर के इन्हें छोड-कर निकल जाना ? इन दोनों में से क्या उचित है कुछ समझता नहीं हूँ ।।५४।।

व्याख्या : मुझे सचमुच शरम आती है यहाँ से निकल जाने की। युद्ध करना हमारा धर्म है फिर भी इन्हें कैसे मार डालूँ ? इन्हें दुर्लक्षित करके स्वयं निकल जाना ही मुझे योग्य है क्या ? इन्हें मार डालने में मुझे शरम आती है। उनकी हानि से सचमुच मेरे लिए क्या लाभ ? फिर यह क्यों कर ? कृपया आपही विचार कीजिए। मैं क्या करूँ ? ५४।

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां
प्रपन्नम् ।। ७ ।।

अर्थ : दैन्य दोष से मेरा अंतःकरण ग्रस्त हुआ है। धर्म के संबंध में (धर्म तथा अधर्म के निर्णय के संबंध में) मेरी बुद्धि मोहग्रस्त है। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए निश्चित

'श्रेय' क्या है ? मैं आपकी शरण में हूँ, कृपया मुझे उचित उपदेश कीजिए ।। ७ ।।

आम्हां काय उचित । तें पाहतां न स्फुरे येथ ।
हें मोहें येणें चित्त । व्याकुळ माझें ।।५५।।

अर्थ : वस्तुत: हमें क्या उचित है यह सूझताही नहीं । मेरा मन मोह से विकल हो गया है ।५५।।

व्याख्या : श्री अर्जुनजी का अंत:करण दयाभाव से पूरा ग्रस्त हुआ है । धर्माधर्म के निर्णय के बारे में उस की बुद्धि मोह-ग्रस्त है । औचित्य की पहचान उससे नहीं हो सकती । अत: वह श्रीभगवान् की ही शरण जाता हैं और उनसे पूछता है कि कृपा करके मेरे उचित है वही आप कह दें । मैं अपनी पात्रता जानता हूँ । इस देह की मर्यादा भी जानता हूँ । इस महान् संघर्ष की समस्या हल करने की पात्रता न मुझ में है, न मेरी देह में । देह की क्षमता विगलित हुई है । उसकी शक्ति क्षीण हुई है क्यों कि देहंधारणा का जो धर्म वह अब नहीं रहा । यहाँ धर्म के बारे में भी संदेह पैदा हुआ है, फिर इस देह में शक्ति कहाँ से होगी ? यहाँ न अैहिक बल साथ देता है न आधिदैविक बल ! यहाँ आत्मस्फुरण नहीं होता । अपने स्वधर्म के प्रति संदेह है फिर धर्मनिर्णय कौन करेगा ? आत्मस्फुरण कहाँ से होगा ? आत्मीयता का स्रोत व्यामोह के कारण रुध्द है । सहज स्फूर्ति तथा स्वाभाविकता खो गयी है । मोह के घने अंधेरे में प्रकाश की रेखा तक नहीं दिखाई देती । मोह सर्वत: व्याप्त हुआ है ।

बुध्दि उसके घेरे में बुरी तरह घिरी हुई हैं। विवेक का सुयोग्य स्फुरण किंचित् मात्रा में भी हो तो यह देह झट सचेत होगा। अपनी क्षमता बढायेगा। अपनी योग्यता बढायेगा।

बात यह है कि यहाँ स्फुरण ही नहीं है। कुछ समझ नहीं सकता कि क्या किया जाय ? किसी भी प्रकार की स्फूर्ति ही नहीं है। वैसे तो देह को भी स्फुरण है। उसकी अपनी लगन झट परिणामकारी होती है। किंतु यहाँ अब देह भी विगलित हुई है। इस देह को कार्यप्रवण करना कुछ आसान बात नहीं। न मन में स्फूर्ति है, न वृत्ति में प्रेरणा, न बुद्धि में धर्म की निश्चिति। फिर देह की कृति अंधे की सी हो रही है। प्रकाश नहीं, प्रेरणा नहीं, ज्ञात नहीं, धर्म नहीं। फिर इस देह से क्या हो सकता है ? इस समर प्रसंग के लिए जो निर्धार चाहिए वह है कहाँ ? हो तो भी कैसे हो सकता है ? 'वैर' की भावना भी जहाँ अक्षम्य सी है, जो अधर्म की बात होगी तो फिर युध्द कैसे संभव है ? देह की अहंता न रही है न मन का आवेश। यहाँ वैर ही परास्त हुआ है। मैं सचमुच संमूढ हुआ हूँ। यह संमोहन दूर नहीं हो सकता। मन की व्याकुलता हटती नहीं। कुछ आकलन नहीं हो सकता। मेरा चित्त फँस गया है इस मोहरूप कीचड में। वह उस में पूरा डूबा है। वह मेरे अधीन नहीं रहा। आवश्यक है कि इस चित्त को पहले अपने अधीन करना। यह कैसे होगा ? चित्त स्वाधीन होनेपर ही यह भ्रम हटेगा। कुछ सूझताही नहीं ! हे भगवन्, कृपा कीजिए और मार्ग दिखलाइए ॥५५॥

तिमिरावरुद्ध जैसें। दृष्टीचें तेज भ्रंशे।
मग पासींचि असतां न दिसे। वस्तु जात ।.५६।।

अर्थ : अंधेरे से घिरे होने के कारण मेरी दृष्टि का तेज ही मानो खो गया है जिससे पास की चीज भी नहीं दिखाई देती। ।। ५६ ।।

व्याख्या : प्रकृति का यह त्रिगुणात्मक संसार मायिक उपाधी को बनाये रखता है। उस से पार होना आसान बात नहीं। जब तक हम कर्मों के अनुष्ठान में रहते है, फलाशा चाहते नहीं, तभी वही कर्तव्यानुष्ठान 'साधना' बन जाता है। वहीं धर्मप्रेरणा प्राप्त होती है। अन्यथा प्रकृतिजन्य त्रिगुणमयी माया हमारे मन-बुध्दि को सचमुच परास्त कर देती है। जिस प्रकार अंधियारा आँख की ज्योति प्रदीप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार मायिक उपाधी आत्मनिष्ठा नहीं जगा सकती। व्यामोह को हटा नहीं सकती। मोह से ग्रस्त रहने पर कर्तव्यनिष्ठा किस प्रकार जागृत होगी ? अंधेरे को हटाना प्रकाश का काम है। अंधेरे में लीन व्यक्ति आँख का तेज ही खो जाता है। वह क्या देखेगा ? देह की क्षमताही नहीं रहती कि वह आँखों को तेज दिखायेगी। वहाँ प्राकृतिक प्रमाण है जो अपनी मर्यादा छोड नहीं सकता। उसकी क्षमता सीमित है। प्रत्युत् जब आत्म ज्योति प्रकाशित है, तब आँखें चौंधिया जानेपर भी यह आंतरिक प्रकाश सब कुछ दिखाने में समर्थ है। देहाधार के कारण अंतर्निहित आत्मवस्तु, केवल 'एकमेवाद्वितीयम्' सी प्रत्यक्ष होने लगती है। वही सच्चा एकान्त है। एकमें ही सब कुछ स्थित

है। इस एकान्त को खो कर कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता। वहाँ ज्ञानदृष्टि की ही जरूरी है। फिर वही दृष्टि हमारी कल्याणकारी सखी बनकर सहाय्यकारी होगी। देहधारणा का महत्व समझकर उस के लिए जो कुछ आवश्यक है वही किया जाएगा किंतु देह धारणा केवल देह के लिए नहीं होगी। वहाँ आत्मनिष्ठा का सुलक्षण वैभव अपनेआप पनपता रहेगा ।।५६।।

देवा तैसे मज जालें। जें मन (हें) भ्रांती ग्रासिलें।
आतां काय हित आपुलें। तेंहि नेणें ।। ५७ ।।

अर्थ : उसी प्रकार, हे देव, मैं अनुभव कर रहा हूँ। मैं सचमुच भ्रांति से ग्रस्त हूँ। मेरा अपना हित किस में है, यह समझ नहीं सकता ।। ५७ ।

व्याख्या : अत: वही अपनापन उस बुध्दि–सखी के द्वारा प्राप्त होगा तो बहुतही ठीक। मुझसे अपना कर्तव्य पूरा हो जाएगा। मैं कुछ न कुछ सुयोग्य रास्तेपर जा सकूँगा। अब मैं तो सचमुच भ्रान्त हूँ मैं कुछ भी नहीं समझता हूँ। मैं अपना हित, कल्याण आदि का विवेक नहीं कर सकता। अत: मेरा भ्रम, भ्रांति दूर करनी ही चाहिए ।।५७।

तरि श्रीकृष्णा तुवां जाणावें। निकें तें आम्हां सांगावें।
जें सखा सर्वस्व अघवें। आम्हांसी तूं ।। ५८ ।।

अर्थ : अत: हे श्रीकृष्ण ! तुम ही यह जान कर, जो अच्छा तथा हितकर है, वह बताओ। तुम ही हमारे मित्र तथा सर्वस्व हो ।। ५८ ।।

व्याख्या : हे भगवन्, हे श्रीकृष्ण ! तुम ही हमारे सर्वस्व हो। हमारे पास और कुछ ही नहीं, केवल तुमही हो। तुम अकेले हमारे हो। अतः आवश्यक है कि तुम जिस प्रकार कहते हो उसके अनुसार कर्म करते रहना हमारा ही कर्तव्य है। तुम्हारी योग्यता के अनुसार ही हमसे तुम्हारा आदर होना चाहिए। तुम्हारी आज्ञा के अनुसार हमारा बर्ताव होना चाहिए। किंतु यह समर प्रसंगही बिलकुल विपरीत है जिससे यह क्या हो रहा है समझ नहीं सकता। कर्तव्य की ओर मन झुकता ही नहीं। तुम तो बुध्दिमानों में सबसे वरिष्ठ हो। तुम्हीं केवल ऐसे हो कि जो इस प्रसंग में हमारे जीवनाधार, पथप्रदर्शक हो। अतः जो कमी है वह पूरी कर दो। हमारी बुध्दि सचमुच मलीन हो गयी है। परम्परा का आवरण उस की शक्ति को दबाये रखता है। वह अपने कर्तव्य को भलीभाँति समझ ही नहीं पाती। उसकी विवेकशक्ति किस प्रकार कार्यप्रवण होगी यह भी मैं समझ नहीं सकता। अतः यह विवेक जागृत होना चाहिए। बुध्दि की आँखें साफ होनी चाहिए। जो सचमुच हितकारी है, जिससे हमारा इहपर कल्याण होगा, ऐसा कर्तव्य कृपा करके मेरी अल्पमति को समझाइये। क्या योग्य है, क्या सच है इस का विवेक ही महत्त्व का है। बुध्दि का यह बल महत्त्वपूर्ण है। यह किस प्रकार होगा यह कृपा करके समझाइये। जब ज्ञान बुध्दि में आ जाता है, जब उसका प्रकाश फैलता है तभी मनुष्य अपने कर्तव्य से हट नहीं सकता। देह का समूचा ऐश्वर्य उस पुरुषार्थ सिध्दि में है जो कि केवल ज्ञानवान् होने में ही है। अतः हे भगवन्, तुम्हीं एक ऐसे हो कि जो यह सब

कुछ जानकर, यथार्थता से अनुभव कर हमें अपनी मोहनिद्रा से छुडा सकते हो। वस्तुत: वह जानने के लिए आवश्यक सी तन्मयता, एकतानता तथा वह जानना यह सब कुछ आपही का बल है, सर्वस्व है। इसीलिये आपही हमें वह बल, वह सारसर्वस्व प्रदान कीजिये जिससे इस समरप्रसंग में भी हम यथार्थ ज्ञानसे कोसों दूर नहीं रह सकेंगे ।।५८।।

तूं गुरु बंधु पिता। तूं आमुची इष्ट देवता।
तूं चि सदा रक्षिता। आपदिं आम्हांतें ।।५९।।

अर्थ : तुम ही हमारे गुरु हो, बन्धु हो, पिता हो। हमारे इष्ट देवता तुम्हीं हो। संकट के समय हमारी रक्षा करनेवाले तुम ही एक हो ।।५९।।

व्याख्या : सभी दृष्टी से हमारा रिश्ता तुमसे ही है। हमारे गुरु, बन्धु, पिता और इष्टदेवता तुम्हीं एक हो। जिससे अपने मनकी निगूढ बात कही जाय, जो अपने मित्र का हित प्राणों की बाजी लगाकर देखता है और प्राणप्रिय जैसी महत्त्वपूर्ण बात जानता है ऐसे तुम्हीं एक हो। अपनी प्राणप्रिय पार्वती से जो हितकारी बात कह देता है, वह श्रीभगवान् शंकर तुमही हो। अत: हमें तुम अत्यन्त प्रिय हो। सर्वस्व हो। हमारा गुरु भी तुम हो। कुल धर्म की परम्परा का उचित पालन किस प्रकार करना, यह सिखानेवाला, बन्धुत्व का बन्ध सुयोग्य रूपसे निभानेवाला तथा बन्धुप्रेम का आदर्श तुम्हारे रूप में साकार है। समूची पैतृक गुणसंपत्ति का दान देनेमें पिताजी का ही अधिकार

है। पिताजी की आज्ञा सर्वमान्य होती है। आपकी सुयोग्य आज्ञा हमें पिताजी की ही याद दिलाती है। जब कभी संकट आता है तब हमारे इष्टदेवता आज तक सुप्रसन्न रहकर, हमारी विपदाओं को दूर करने के लिए तत्पर रहे हैं, आपही के रूपमें। आपही सचमुच हमारे इष्टदेवता है। अत: हमारे कल्याण की आपको छोडकर अन्य किससे कहूँ ? दूसरा ऐसा कौन सुयोग्य है कि जो ऐसी योग्यता रखता है। जब हम त्रिविध तापों से कष्टी हो जाते हैं, जब संकटों में आ जाते हैं या विविध दु:खों के आघातों से व्यथित हो जाते हैं, तब उसके पहले हमें तुम्हारी ही याद आती है, याद आने देते हैं, याद आने दे। आपका स्मरण ही ऐसा है जो बडे कठीन प्रहार होने पर संकटों से जूझते समय किसी भी प्रकार हानि नहीं पहुँचने देता। कमसे कम उसकी तीव्रता बहुत कम हो जाती है, जो सुसह्य बनती है। जिससे हे भगवन् हम धीरज नहीं खो देते। बाधाएँ नष्ट होती है। रास्ते पर तुम्हारा साथ रहता और मन में तुम्हारा स्मरण ! इस जगत् में तुम्हारे सिवा और कुछ भी आधार नहीं। अत: कृपया दुर्लक्ष न कोजिए। यह तुम्हारा ब्रीद है कि अपने भक्तों की ओर दौडते जाना। तुम हमें दूर नहीं कर सकते। तुम करोगे भी नहीं। यह विश्वास है, दृढ श्रध्दा है ।.५५।।

जैसा शिष्यातें गुरु। सर्वथा नेणें अव्हेरु।
कीं सरितांतें सागरू। त्यजी के ।। ६० ।।

अर्थ : गुरू कभीं भी शिष्य की ओर दुर्लक्ष नहीं करता। समुद्र नदो को कभी भी त्यजता नहीं ।।६०।।

व्याख्या : हे भगवन् ! आपसे सविनय प्रार्थना है, हाथ जोड कर यह विनंति है कि आप हम से मुँह न मोड़े। हमारी ओर दुर्लक्ष न करें। शिष्य के माथे पर रखा हुआ वरदहस्त श्रीगुरु कभी नहीं दूर करेंगे। एक बार वह वरदहस्त माथेपर से फिराया जानेपर फिर उस शिष्य को कभी दूर लौटेंगे नहीं। नदी की पर्यवसान अन्त में सागरही है। उसकी अन्तिम महत्ता सागर में लीन होने में है और सागर भी उसे कभी अस्वीकार नहीं कर सकता ! नदी महान् रूपमें, सागर में परिणत होती है। उसकी महत्ता सागर है, सागर की महत्ता नदी का उसमें लय होने में है। जब वह सागर से मिल जाती है तब वह नदी नहीं रह सकती। वह तो अब सागर बन जाती है। जब यह महत्त्व पाया जाता है तब वह मान्यता प्राप्त होता है। फिर क्या कभी उसकी योग्यता कम हो सकती है ? छात्र जब श्रीगुरु का वरदहस्त पाता है तब वह भी गुरु की भाँति योग्यता पाने का अधिकारी होता है। वहाँ उसकी श्रद्धा गुरु पद को सम्मानित करती है। शिप्य सम्मानित होनेपर भी श्रीगुरु का शिष्यही है और श्रीगुरु भी उसको कभी दूर लौटेंगे नहीं ॥६०॥

नातरी अपत्यातें माये। सांडूनि जरी जाये।
तरी तें कैसेनि जिये। आईकें श्रीकृष्णा। ६१॥

अर्थ : हे श्रीकृष्ण ! आपही विचार कीजिए, कि माँ अपने बालक को छोडकर चली जाएगी तो फिर वह कैसे जियेगा ? ॥ ६१ ॥

व्याख्या : बच्चा सचमुच माँ पर अवलँबित रहता है। वह अर्भक है और वह बिना माँ के प्यार के कैसे जी सकता है? जब वह माँ को देखता है तो आनन्द विभोर हो जाता है। माँ की दृष्टि से स्नेह की अनन्त धाराएं फूटती हैं। उस स्नेह के पीछे बालक के कल्याण की इच्छा है, क्षमता है। उसके साथ बालक का हित है। बालक को छोडकर वह चली जाएगी तो फिर जीनेकी आशा ही नहीं होगी। हे भगवन्, आप मातृवत् हैं, आप अगर इस समय बिछुडेंगे तो हमें वह स्नेह, वह अमृत तुल्य आशीर्वाद कहाँ से प्राप्त होगा? ।।६१।।

तैसा सर्वंपरी आम्हांसी। देवा तूंचि एक आहासी।
आणि बोलिलें तरि न ममिसी। मागील माझें ।।६२।।

अर्थ : उसी प्रकार हे देव! आपही हमें सभी प्रकार से केवल एकही हैं (कि जो सबसे बडे हैं)। आज तक इसके पहले मैंने कुछ भला बुरा कहा होगा वह आप दुर्लक्षित करें ।।६२।।

व्याख्या : हे प्रभू! हमें तुमही एक हो अन्य कोई तुम जैसा नहीं। तुम्हारे प्रति मेरे मन में आत्यंतिक स्नेह की मात्रा है वह क्या कहूं? तुम्हारी पात्रता बहुतही बडी है। विश्वनियंता के रूप में तुम हो अतः हमारे देवता भी तुम हो। किंतु आज तक भूलसे हमने तुम्हारी योग्यता के अनुसार बर्ताव नहीं किया। स्नेह से साथी समझ कर अनुचित रूपसे तुम्हें पुकारा। कृपया आपने भी वह बातें सुनी अनसुनी कर दीं। इकलौते बेटे के समान आपको यह प्रेमाभरण है। आपका स्नेह क्या कहने योग्य है? ।।६२।।

तरि उचित कायि आम्हां । जें व्यभिचारेना धर्मा ।
तें झडकरीं श्री पुरुषोत्तमा सांग आता ।। ६३ ।।

अर्थ : हे पुरुषोत्तम ! हमारे लिए जो कुछ योग्य है तथा जो धर्म के विरुध्द नहीं, वह जल्दी ही कह दे । ६३ ।

व्याख्या : हमारा पुरुषार्थ, हमारा कर्तव्य कर्म धर्म के विरुध्द न हो । धर्म की महती कभी कम न होने पाये । धर्म के बलपर ही हम कर्तव्य कर सकते हैं । अत: जो धर्म के विरुद्ध न हो तथा हमारे लिए कल्याणकारी हो अैसा ही कर्तव्य हमें कृपा करके तुम कहो । इस कठीन प्रसंग में तुम हो अैसे हो कि जो सचमुच धर्म का अर्थ स्पष्ट करोगे । सभी मनुष्यों में आपही श्रेष्ठ हैं । आपको ही श्री पुरुषोत्तम कहा जाता है । मनुष्य की सभी श्रेष्ठता, उत्तमता आपके रूपमें सुप्रतिष्ठित है । हमारी बुध्दि वही उत्तमता देखे । धर्म का आधार पाये । देव तथा भक्तों के बीच द्वैत न निर्माण करे । अगर अैसा हो जाय तो फिर धर्म तथा कर्तव्य कर्म एक हो जाएगा । कर्तव्य की सफलता उसीमें है । पुरुष का एक-पत्नीव्रत तथा पत्नी की पति-परायणता धर्म का उत्तम आदर्श है वैसेही वही निष्ठा जिस धर्म में, कर्तव्य-कर्म में आवश्यक हो, वह हमें कृपया कह दें ।।६३।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

अर्थ : इन्द्रियों को शुष्क बनानेवाला ऊग्र शोक जब तक नष्ट नहीं होता, तब इस पृथ्वीपर (१) निष्कंटक तथा निर्वैर

और वैभवपूर्ण का राज्य भी किस काम का ? ।।८।।

(२) इस पृथ्वीपर शत्रुरहित विशाल राज्य या देवताओं का अधिपत्य इनका मुझे यदि लाभ होगा तो भी जिससे मेरे इन्द्रियों को शुष्क करनेवाला शोक जिससे नष्ट होगा ऐसा कुछ भी यहाँ दिखाई नहीं देता ।।८।।

हें सकळ कुळ देखोनि । जो शोक उपजलासे मनिं ।
तो तुझें वाक्यें वांचुनि । न जाय आणिकें ।। ६४ ।।

अर्थ : यह सभी कुल (गोत्रज) यहाँ देखकर मेरे मनमें सचमुच शोक उत्पन्न हुआ है और वह तुम्हारे उपदेश के बिना कभी उपशम नहीं पायेगा ।। ६४ ।।

व्याख्या : मनुष्य का मन जब विकारवश हो जाता है तब वह झट उपशम नहीं पाता । उसका क्षुब्ध रूप विकारों को बढाताही है । विकारों, वासनाओं के गर्त में फँसे हुए मन को साशंकता और भी डुबाती है । वह अपनी आत्मा की न पहचान कर सकता है न वह प्रशान्त हो सकता । वह आत्मस्वरूप में लीन होने की बात ही छोडो । यहाँ तुम्हारे उपदेशरूप अमृत के सिवा उसकी सांत्वना संभव नहीं । संतवाक्य तथा गुरु कृपारूप अंजन प्राप्त हो जाय तभी उसका शोक, व्यामोह हट सकेगा । उसका शोक अन्य किसी भी उपाय से हटेगा नहीं । हे भगवन् ! तुम्हें इसीलिए अपने कृपारूप शब्दों का सिंचन करना चाहिए । जब तक आत्मसत्ता का परिचय नहीं, तबतक उसकी आत्मीयता भी अनुभव करना मुश्किल है । जब आत्मीयता उदित हो जाती

है तब सच्ची आत्मनिष्ठा जागृत रहती है। फिर "मैं कौन हूँ" इस की सच्ची पहचान रहती है। फिर शोक कहाँ ? 'मैं' का ही पता नहीं चलता। अहन्ता या अहंकार ही यहाँ है जो 'मैं' 'मैं' करता रहता है। न स्वामीत्व पाया जाता है, न आत्मप्रत्यय। फिर साशंक वृत्ति रहा करती है जो हृदयदौर्बल्य प्रदान करती है। फिर इन सभी गोत्रजों के प्रति न केवल प्रेम ही रहता है सो झूठी आत्मीयता ही पैदा होती है। "ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ" यह मूलतः ही भ्रम है किंतु उसकी पहचान जबतक नहीं तबतक इन सभी के प्रति जो स्नेह है वह कैसे टाला जाएगा ? यद्यपि वही 'एक' 'अनेक' होकर विश्व का सृजन हुआ है, और उसका ही 'एक अंश' अपने में स्थित है, तो भी उसकी आत्मानुभूती जब तक नहीं तब तक यह अपनापा क्या व्यभिचार नहीं ? यहाँ एकत्व है किंतु आंतरिक एकता कहाँ अनुभव हुई ? अतः जो ऐक्यभाव है वह देहोपाधि तक सीमित है। इससे जो स्वत्व है वही भुला जाता है। दूसरों को समर्पित होता है। दूसरों के द्वारा स्वत्व की रक्षा कभी संभव नहीं। यही विलक्षण तथा विचित्र अवस्था भ्रान्त बुद्धि का उत्कृष्ट उदाहरण है। क्या उसके गर्त में ही गिरे रहना उचित है ? भ्रान्त बुध्दि की माया छोडने के लिए वहाँ अव्यभिचार आवश्यक है। एकत्व का साक्षात्कार आत्मप्रतीति के बिना असंभव है। एकत्व किस प्रकार अनेकत्व का आधार हो जाता है ! वहाँ कैसी धारणा है ? धर्म क्या और क्यों कर है ? योग्यता का अर्थ क्या है ? ऐसी कई बातें हैं जो वस्तुतः आत्मप्रतीति के सिवा समझी नहीं जाती। प्राणधारणा तथा वांशिक विस्तार इनमें ही सकल

कुल की कहानी है जो अपनापा फैलाती है और शोकसे व्याप्त करती है। दूसरे शब्दों में देहबुध्दि का ही यह प्रसव है जो अपने आक्रोश से, आकांक्षा से कुलसंभव की, कुलाचार की शोकभरी कहानी है। जहाँ सांत्वना है कहाँ? शान्तता कहाँ है? आकांक्षा, लोभ, मोह तथा मत्सर की कडुओ घूँटें यहाँ क्या कम स्वीकारनी पडती हैं? देह की यह उपाधी सर्वथैव दु:खदायी है। अत: मेरी अपनी बुद्धि जो अभी इसी सीमा के भीतर घूमती फिरती है, जो अब तक देह के अंतर्गत स्थित आत्मा को पहचान नहीं सकती इन सभी कुल-गोत्रज को देखकर सचमुच परेशान हुई है। उनके देह, उनका जीवन, उनका आवेश तथा वैर मुझमें सचमुच दया प्रेरित करता रहा है। उनके बारेमें विचार करनाही पडता है।

देह के संदर्भ में मनुष्य की जिज्ञासा तीव्र रहा करती है। वह आदर्श को देखना चाहता है, उत्तमत्व प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा रहती है। फिर उसके अन्तर में प्रश्न निर्माण होते हैं कि यह उत्तमत्व क्या है? उसलिए किस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए। किस प्रकार विचार हो? कैसा विवेक निर्माण होता है? प्रायश्चित, अनुष्ठान, त्याग तथा ज्ञान का अन्वय क्या है? जिस ज्ञान को पाकर मनुष्य अन्तर्मुख होता है, वह क्या? निष्ठा कैसी है? एकान्त क्या है। कहाँ पाया जाता है? लालसा तथा प्रीति दोनों में क्या फर्क है? प्रीति का परिणय क्या विवाह हैं? यं सभी बातें देहबुध्दि की अपनी समस्या है। इन सभी के प्रति तीव्र जिज्ञासा निर्माण होने के बाद सच्चा

तप शुरु होता है जो अपने आप शुध्दता की ओर ले जाता है। जब विद्यार्थी दशा समाप्त होती है और ब्रह्मचारी गृहस्थी बन जाता है तभी उसने जो कुछ पाया हो उसकी परीक्षा शुरु होती है। श्री भगवान् की कृपा यहाँ नितरां आवश्यक रहती है क्यों कि अपने गुरुत्व की प्रौढी निर्माण होने की संभावना रहती है। जहाँ प्रापंचिक बातों का ही विचार आजाता है तब धर्म की प्रतिष्ठा होने के लिए इष्ठदेवताओं का आशीर्वाद तथा प्रसाद स्वीकार किया जाता है। वैसे आचार्य श्री से ज्ञान प्राप्त किया फिर अब समर प्रसंग में, बुध्दि को मोहित करनेवाले इन प्रसंगों में श्री भगवान् की कृपा सभी बाधाओं का निरसन करने में सहाय्यक होगी। श्री अर्जुनजी की श्रीकृष्णजी से प्रार्थना है कि आप यही कृपादान करें। मेरी बुध्दि का मोह हटायें। उसे ज्ञानदीप्ति से आलोकित करें। आपकी कृपा से, संतों के वचनो से मेरी ग्लानी नष्ट हो सकेगी। उस पर और कुछ भी उपाय नहीं ॥ ६४ ॥

येथें पृथ्वीतल आप होईल। हें महेन्द्रपदही पाविजेल।
परि मोहो न फिटेल। मानसींचा ॥ ६५ ॥

अर्थ : यह पृथ्वी भी अपनी हो जाएगी। महेन्द्र पद भी प्राप्त हो सकेगा किंतु मन में जो मोह पैदा होगा वह कभी नहीं हटेगा ॥ ६५ ॥

व्याख्या : अगर एकबार मन में मोह का संचार होगा तो वह कभी हटेगा नहीं। मोह की शक्ति भी इस प्रकार बडी है

कि जो सामान्य जीव के लिए निःसंशय दुराराध्य है। उससे पार होना मामुली बात नहीं। समूचे भूमण्डल का अधिपत्य प्राप्त हो सकेगा, चाहे तो महेन्द्र पद भी दुर्लभ नहीं रहेगा किंतु मोह का अनावर स्वरूप कभी परास्त नहीं हो सकता। समूची देह उससे विकल बनेगी ॥ ६५ ॥

जैसीं सर्वथा बीजें आहाळलीं। तीं सुक्षेत्रीं जरी पेरिलीं।
तऱ्ही न विरूढतीं सिंचिलीं। आवडे तैसीं ॥६६॥

अर्थ : जो बीज भुने गये हैं वे यदि सुक्षेत्र में बोये गये और चाहे जैसा पानी दिया जाय तोभी अंकुरित नहीं हो सकते ॥६६॥

व्याख्या : हे देवाधिदेव ! आपकी कृपा ही प्रधान है। उसके सिवा अन्य साधन निष्फल हो जाते हैं। पूर्णता तथा सफलता की सिध्दि श्रीभगवान् की कृपा है। आपके अमृतमय शब्दों का सिंचन जब तक नहीं होता, आपके आशीर्वाद जब तक प्राप्त नहीं होते तब तक न सफलता है न विजय है। किसी भी प्रकार की भोग समृद्धि जीव की चरम सफलता नहीं। उसे पूरा संतोष कभी नहीं हो सकता। अतः हे भगवन् ! आपही कृपा कीजिए। करुणार्द्र होकर वर प्रसाद दीजिए। तभी यह समस्या हल हो सकेगी। आपके शब्द समृद्धि, संतोष, उत्साह तथा क्षमता के प्रेरक होंगे। हमारी देह बुद्धि सचमुच छोटी है, जो कभी व्यापक सूक्ष्म तथा आत्मा के समान नहीं हो सकती। आपकी आत्मीयता ही हमें यहाँ सच्चा आधार है। जीवदशा देहबुद्धि का फल है। वहाँ वृत्ति बीज बोये गये हैं।

देह की परिशुद्धि के बाद वही सुक्षेत्र होगा। वृत्तियों का सुनिर्मल रूप देहबुद्धि का भ्रम हटाएगा। आत्मनिष्ठा की उदय होगी। फिर आत्मदर्शन दूर नहीं जो सभी समस्या का परिपूर्ण उत्तर है। समस्या का सच्चा दर्शन है, जो अपने आप समस्या को ही रहने नहीं देता।

जब बीज भुने गए हैं तब वे अंकुरित नहीं हो सकते। वे किस प्रकार पनप सकते हैं ? चाहे हम उन्हें अच्छी सी जमीन में क्यों न बोयें। चाहे उतना पानी क्यों न दें किंतु परिणाम नहीं होगा। बीज की शुद्धता तथा श्री भगवान् की कृपा महत्त्व की है। आपकी कृपा काही अनन्य साधारण महत्त्व है, और बातें बेकार हैं ।।६६।।

ना तरी आयुष्य पुरलें आहे। तरी वोषधि कांहीं नव्हे।
येथ एकचि उपेगा जाये। परमामृत ।। ६७ ।।

अर्थ : जब आयुष्य ही पूरा हुआ है तब फिर औषधी का कुछ उपयोग हो नहीं सकता। अगर परमामृत प्राप्त हो तो उपयोग होगा।

व्याख्या : जब जीवन ज्योति बुझने लगती है, जीवन की आखिरी ही आ जाती है, तब दवाओं से कुछ बनता नहीं। दवा का कुछ उपयोग नहीं होने का। श्री भगवान् का 'नामामृत' ही वहाँ महत्त्वपूर्ण है। वह अमृत यदि औषधी के रूप में प्राप्त होगा तो आयुष्य दीर्घकाल तक रहेगा। उसकी मात्रा बढेगी। अन्य कुछ भी उपाय नहीं।। ६७ ।।

तैंसें राज्यभोग समृद्धि । उजीवन नव्हें जीवबुद्धि ।
येथे जिव्हाळा कृपानिधी । कारुण्य तुझे ।। ६८ ।।

अर्थ : हे प्रभू ! राज्यभोग या समृद्धि के द्वारा जीवबुद्धि को किसी भी प्रकार स्फूर्ति प्राप्त नहीं होती । हे दयानिधी ! आपको कृपा तथा आत्मीयता ही यहाँ काम की चीज है ।।६८।।

व्याख्या : वस्तुत: भोग तथा राज्ययोग का महत्त्व उस योग के संदर्भ में कम महत्त्व का है । अत: इसे 'उप'–योग का कहा जाता है । इसके द्वारा बुद्धि को वह स्फूर्ति कभी नहीं प्राप्त होगी कि जिससे वह स्वयं आत्मप्रकाशक होगी । जीव जब तक 'शिवैक्य' पा नहीं सकता तब तक सभी 'उप' योग ही हैं । शिव से ऐक्य पाना जीव का मूलभूत हेतु है । इस के लिए केवल एकही उपाय है । आपकी कृपा ही महत्त्व की है । आप करुणाघन हैं । आपकी कृपा की सरिता इस ओर बहा दें । आप के शब्दों द्वारा वही प्रेमवृष्टि प्राप्त होगी । हे दयाघन । इस के बिना और कुछ चारा नहीं । मैं सचमुच बच्चे जैसा हूँ । आप की दयादृष्टि मेरा आधार है। आपकी कृपा की मुझे प्यास है ।। ६८ ।।

ऐसें अर्जुन तेथे बोलिला । जरि क्षण एक भ्रांति सांडिला ।
मग पुनरपि व्यापिला । उर्मी तेणें ।। ६९ ।।

अर्थ : अर्जुनजी ने इस प्रकार कहा और एक क्षण के लिए उसकी भ्रांति हट गयो । फिर भ्रांति की लहरें उठीं और वह उन से व्याप्त हो गया ।।६९।।

व्याख्या : श्री अर्जुनजी की भ्रांति कुछ क्षण के लिए जरूर टूट गयी थी । इसी लिए वह इस प्रकार कह सका । श्रीभगवान् की शरण जाने कारण उसका मोह कुछ काल के लिये दूर हुआ । वह उनकी करुणा चाहता था। अत: भ्रांति दूर होना स्वाभाविक था । भ्रांति भी कुछ निर्बल सी नहीं थी जो झट से पूरी तरह टूट जाय । एकही क्षण के अनन्तर वह भ्रांति पटल से ढँका गया । भ्रांति की लहरें फिर उमडने लगीं और उनमें वह पूर्ण रूपमें फिर डूब गया ॥६९॥

कीं मज पाहतां उर्मी नव्हे । हें अनारिसें गमत आहे ।
तें ग्रासिला महामोहें । काळसर्पें ।। ७० ।।

अर्थ : मुझे तो ऐसा लगता है कि यह भ्रांति की लहर ही नहीं, कुछ और ही बात है । अैसा लगता है कि वह महामोहरूप कालसर्प द्वारा ही ग्रस्त हुआ है ।।७०।।

व्याख्या : श्री भगवान् ने उसपर पहलेसे ही करुणा की थी । जिसके कारण ही उसको भ्रांति कुछ काल के लिए कम हुई थी । वह पूर्णरूप में उनकी शरण आया था । भ्रांति जैसी बलवती विकृति झट कम होने की निश्चिति नहीं रहती । जब श्री भगवान् उसे देखते हैं तब वह भ्रांति का विष नष्ट हो जाता था । किन्तु अबकी बार भ्रांति की लहरें जोर जोर से उछल रही थीं । उनका आवेग तीव्र था । उनका विष उसके शरीर में ओतप्रोत हुआ । अत: मोह तथा भ्रांति के द्वारा ग्रस्त हुआ अर्जुन श्री भगवान् को महामोहरूप कालसर्प द्वारा ग्रस्त सा दिखाई देने लगा ।।७०।।

सवर्म हृदय कल्हारीं । तेथ कारुण्यवेळेच्या भरीं ।

लागला म्हणौनि लहरी । भांजेचि ना ।।७१।।

अर्थ : शरीर में जो मर्मस्थान है वह हृदयरूप कमल में, कारुण्य की अधिकता ही इस समय है, इस लिये (कारुण्य की) लहरें कम नहीं होती ।।७१।।

व्याख्या : हृदयरूप कमल यह देहस्थित मर्मस्थान है। वहीं अगर दंश हो तो विषकी तीव्र लहरें आया करती हैं। करुणा की वेला है श्याम। श्याम के समय यह दंश और भी अधिक परिणामकारी हो जाता है। श्री अर्जुन जी इसी दयारूप महामोह के दंश से पूरे मोहित हैं। जो लहरें आजाती हैं वे भी तीव्र हैं।

किंतु यहाँ श्री भगवान् सामने हैं। वे अर्जुन का मर्म तथा कर्म जान सकते हैं। जब उनकी कृपा दृष्टि पडती है तब हृदयकमल खिल उठेगा। करुणा का समय भी अमृतमय होगा। यह सामर्थ्य श्री भगवान् की कृपा का है। अतः इस दंशसे अर्जुन पर कुछ भी असर नहीं। यद्यपि उसने करुणायुक्त वक्तव्य किया तथापि वहां उसके अंतःकरण में उतनी मलीनता नहीं रही। उसका मन निर्मल था, ऋजु था। अतः वह मोह उसे बाधित नहीं कर सका ।।७१।।

हे जाणोनि जैसियां प्रौढी । जो दृष्टि सवें (चि) विष फेडी ।

तो धांवया श्रीहरी गारोडी । पातला कीं । ७२।।

अर्थ : यह बडाही कठीन प्रसंग है यह जानकर, जिसकी

कृपादृष्टि से विष नष्ट होता है, वह श्रीहरिरूप मदारी वहाँ दौडा ।।७२।।

व्याख्या : श्री भगवान् के सामने विष का असर हो सकता है ? हलाहल जैसा कालकूट भी उनकी कृपादृष्टि से झट निर्विष बन जायेगा । श्री अर्जुन महामोहरूप काल सर्पसे डँसा गया है। बडाही कठिन संकट उपस्थित हुआ है यह जानकर श्री भगवान्-रूप मदारी जो अपनी दृष्टि से विष को उतार सकता है, वहाँ दौडे दौडे आया । उसी विष को उन्होंने अमृत जैसा बनाया । वस्तुत: हृदय के वर्मस्थान पर दंश हुआ था । समय भी ऐसा अनिष्ट था कि उस दंश का तीव्र परिणाम जरूर दिखाई पडता । स्वयं अर्जुन जी दयाभावसे पिघल गये थे । तिसपर मोहरूप कालसर्प का दंश ! फिर क्या ? उनकी हानि ही होने-वाली थी । श्री भगवान की कृपा कौन जान सकता है ? उसकी लीला सचमुच अगाध है । वे मानो भले मदारी बन गये हो और उन्होंने अर्जुन जी का विष निर्विष कर दिया । अर्जुन का हृदय मोहसे ग्रस्त है । बुद्धि विकल है । विवेक नहीं कर पाती । भला-बुरा उसे सूझताही नहीं । उसकी प्रौढताही मानो अँधी हो गयी है । किंतु जब भगवान ने उसकी ओर देखा तब वही बुध्दि अपना सत्त्व पा चुकी । दिव्यदृष्टि का (अचरज या) इन्द्रजाल दिखानेवाला मदारी वहाँ उपस्थित हुआ । उसकी दृष्टि के ही कारण वह विष अमृत बन गया । सदा ईश्वरेच्छाहि बलवान रहती है । श्री भगवान् की महिमा । मदारी बनकर अपनी चतुरता की, अपनी कला की एक झलक, एक झांकी आपने दिखलायी । विष तो नष्ट हुआ ही फिर उसका असर कहाँ

रहा ?

लीलाविग्रह श्री भगवान् भक्तों के प्रति सचमुच करुणाघन हैं। जहाँ से पुकार आयेगी वहाँ आप झट ही दौडते जाते हैं। उनके जाने को देर नहीं होती। फिर अर्जुन जी तो उनके परम-भक्त। श्री भगवान् के हृदय में उसके प्रति उत्कट स्नेह। अर्जुन जी की पुकार थी। वह आपकी शरण आया था। शिष्य बन चुका। उपदेश देने के लिये प्रार्थना कर रहा था। प्रसंग भी बडा कठीन। विष पूरी तरह अंदर फैल गया था। वह पूर्ण-रूपसे व्यथित, मोहित हुआ था। उसकी पुकार पर श्रीहरि दौडे दौडे आये। आपने प्रतिसाद दिया। वे आये। करुणाघन आये। दिव्यदृष्टि के श्री भगवान् दौडे। मदारी बन के दौडे। खेल दिखाने के लिये। अमृत दृष्टि लेकर आये। वहाँ विषकी लहरें अमृत की (लहरें) बनाने के लिये वे दौडे। विष कैसे रहेगा ? 'रस' ही बन जायेगा। आनंद की लहरें उछलेंगी। रसानंद की तृप्ति देने ही वे दौडे। ठीक ठीक समय वे आ पहुँचे। विष की लहरें बडी तीव्र थीं। काल सर्प का ही विष मानो। उसपर इलाज करनेवाला एक ही मदारी है, और वह है श्री भगवान्। वे दौडे दौडे आये। उन्हें देखकर सर्प का विष नष्ट हुआ। उनकी अमृत दृष्टि सर्वत्र अमृतमय जीवन बना देती है। दृष्टि भी अमृतमय बन जाती है। आँखों में मानो नया अंजन डाला गया हो। सभी बातें ठींक रूपसे समझी जाती हैं। बुध्दि विवेकपूर्ण हो जाती है। वह सचमुच प्रौढता को पाती है। ऐसी हालत में महामोहरूप कालसर्प का असर नहीं हो सकता। यह अत्यन्त दुर्धर काम श्रीहरि के बिना और कोई

नहीं कर सकता। भ्रांति हट गयी। वहाँ प्रौढता आगयी। विवेक सूझा। मोह रहा नहीं। विष नष्ट हुआ। जीवन में श्री भगवान् मार्गदर्शक बन गये फिर क्या कम था? सब कुछ श्री भगवान् की लीला ही बन गयी। सब जगत् तथा जीवन श्री भगवान् की ही एक लीला मात्र रहा।

मदारी का रूप स्वीकार करके बीन बजाकर श्री अर्जुन जी को आपने जागृत किया। प्रकृति के घेरे में पडे हुए 'पुरुष' की मुक्तता हुई। उनके बीन के स्वर लक्षण तथा लक्ष्य संबंध में आत्म-लक्षी बन गये। आंतरिक पहचान होते ही पुरुषार्थ सिद्धि हाथ आयी। सरिता का उदधि जाकर मिलना, एक रूप होना वैसे यहाँ भी ब्रह्मोदधि में निमग्न हो जाना था। फिर बाकी रहा केवल एक खेल। लीला। उस भगवान का वह नाटक। एक आनंदोल्हास। अद्‌भुत विग्रह। वे स्वयं अपनी चतुराई से शौर्य, धैर्य, औदार्य तथा गांभीर्य के साथ श्री अर्जुन जी की रक्षा के लिये दौडे आये। आपका आना कृपा दृष्टि है। अमृत दृष्टि है अमृतमय जीवन की गवाही है। अमृत निर्माण करनेवाली वह दिव्यता है। केवल देखने मात्र से अमृत की वर्षा हो जाती है, स्वर्गलोक से मानो पीयूष धारा बरस रही है। प्राणों की विकलता फिर कहाँ रहेगी? वहाँ उनकी दृष्टि के कारण सुलभता है, सब कुछ प्राप्त हो सकता है। वह सच्चा एकान्त है जो अपने में सब को अनुभव करता है। उनकी कृपा दृष्टि इस प्रकार जीवनामृत की वर्षा है। प्रेम परिपूर्ण हुआ। आन्तरिक तथा अमूर्त आत्मतत्त्व की आत्मीयता इस प्रकार सगुण बन गयी।

इस पृथ्वी तल पर यह एक विशेषता स्पष्ट नजर आती है कि जब गुणवत्ता प्रकट होती है तब उसकी भी परम्परा रहती है। कुछ काल वह खन्डित भी हो सकती है किंतु उसकी परंपरा बनी रहती है। वहीं 'कुल' की कल्पना स्वीकार होती है। 'कुल' की प्रतिष्ठा, निष्ठा, उसका आचार सब कुछ उसकी अपनी विशेषताएँ रहती हैं। उस संबंध में जो निष्ठा, वहां प्रीति उत्पन्न हुई तो देवताओं के आशिष ही प्राप्त हुए। कुल, शील, स्वधर्म, निष्ठा, सौंदर्य, चातुर्य तथा पातिव्रत्य इन सभी का आविष्कार वहाँ अनुभव किया जाता है। फिर जीवन देवताभाव को अपनाता है। देवता ही मानो स्वर्गसे नीचे आये हों, जीवन बनकर। जीवनरूप होकर वेही भूतलपर आकर जीवन का आलोक हो गये।

अगर यह देवताभाव आलोकित न हो तो फिर अन्धेरा ही है। सूरज के उदय के समय ऋषि-मुनियों द्वारा अर्घ्य प्रदान किया जाता है जो पाप का नाश करता है, पुण्य की प्रेरणा देता है। जीवन में भलाई बढे, बुराई कम हो। बुराई बहुत कुछ रहने पर क्या सम्भव है कि भलाई भी बढकर रहेगी? आवश्यक है कि सत्य की सत्ता भी पहचाननी होगी। असत्य सत्य के रूप में सामने आता है। सत्य को ढँक लेता है। सत्य कुछ काल तक जरूर ढँकासा रहेगा फिर भी वह पूरी तरह तथा दीर्घकाल तक नहीं। अतः यह समझ लेना चाहिए कि जीवन में 'स्व' सत्ता का अनुभव करना आवश्यक है। सत्य के माने हैं, विद्यमानता, सत्ता। वह है ही। उसे उसी रूपमें

स्वीकारना आवश्यक है। केवल साक्षी बनकर। जब हम वर्तमान अनुभव नहीं करते तब वह परम्परागत रहता है। उसकी शृखला बनी रहती है। परम्परा प्राप्त अनुभव के आधार पर ही हम वर्तमान को अनुभव करते हैं जिससे 'वर्तमान' परम्परा का परिणाम हो जाता है न कि केवल सत्ता, विद्य-मानता या साक्षीभाव। यहाँ सत् की प्रतीति नहीं। जो है वह परम्परा की अनुभूति। जो क्रिया होती है, जो कर्म किये जाते हैं वे सत्ताहीन, वर्तमान के अभावरूप ही बनते हैं। 'पुरुष' सर्वदा केवल 'साक्षी' है किंतु 'प्रकृति' उसे स्वस्थ नहीं बैठने देती। वह प्रकृति के अधीन होकर सब कुछ करतासा दिखाई देता है। यहाँ प्रकृति उसे घुमाती है। प्रकृति ही कर्तृत्ववान् है। अत: वही 'स्वामी' बनकर, सत्तारूप होकर रह जाती है। जो मूलत: सत्तावान् है वह 'पुरुष' पीछे रहता है। प्रकृति उसके अधिष्ठान में यह संसृति का प्रपंच करती रहती है। प्रकृति के संसर्ग से 'साक्षी', 'सत्तामात्र' 'पुरुष' को पापपुण्य की, धर्माधर्म की, कुल की तथा अन्यान्य संस्कारों की उपाधियाँ लगी रहती हैं। भिन्न भोगों की अभिलाषा में प्रकृति पुरुष का जीवन चलाती है। प्रकृति के अधीन होने के कारण ही जन्म जन्म की परिक्रमा शुरू रहती है। वहाँ फिर जाति का बन्धन हो आता है। वर्णों की बातें निर्माण हो जाती हैं। 'संकर' वस्तुत: किस का ? किसके साथ ? वस्तुत: जो है वह 'शं' कर ही है। उसे वर्ण संकर नहीं, जन्म नहीं, जीवन नहीं। वह केवल सत्तामात्र अक्षय स्थाणु तथा आत्मरूप 'पुरुष' तत्त्व है। सभी खेल उस प्रकृति का है। यह खेल जानकर अगर हम सन्तुलित रहेंगे,

विचलित न होंगे तो फिर कुछ बन जायेगा। अन्यथा असंतुलित वृत्ति मोह पैदा करेगी। प्रकृति अपना स्वरूप कभी प्रकट नहीं करेगी, न पुरुष को दिखलाकर निवृत्त होगी। फिर जो जीवन होगा वह दंभ मात्र है। व्यर्थ तथा निष्फल जीवन में चरितार्थता का पता कदापि सम्भव नहीं। सत्य का अनुसंधान जीवन का अर्थ है। इस अनुसंधान की ओर ध्यान न रहने के कारण जीवन केवल भोगप्रवृत्ति हो जाता है। भोगप्रवणता किसी भी हालत में अन्तर्मुख नहीं कर सकती। बहिर्मुख जीवन सुखोपभोग के लिए लालायित रहता है यह जीवन उसके उद्देश्य को छोडकर और ही कुछ हो जाता है। प्रकृतिमाता की जो लीला है, जो क्रीडा चल रही है, उसका अपना हेतु है। वह उसके द्वारा जीवभूत आत्मा को विविध अनुभूतियों के द्वारा आत्मलक्षी बना देती है। इस उद्देश्य को छोडकर जो जीवन है वह प्रकृति के लिए बोझ मात्र है। 'पुरुष' की प्रतिष्ठा में प्रकृति की गृहस्थी है। और प्रकृति भी क्या है। उसी परतत्त्व की उससे अविभक्त ऐसी गुणवती माया है। सत्य के साक्षात्कार का अनुभव कराना प्रधान उद्देश्य है। जीवन के कर्तव्य, कर्म, धर्म सभी के द्वारा उस अन्तरात्मा की पूजा है। निर्लेप तथा निर्मोही होकर जब इस क्रीडा को देखेंगे तभी संभव है कि हमारे जीवन में साक्षात्कार की झाँकी स्पष्ट दिखाई देगी।

उस प्रकृतिमाता का यह वात्सल्य है कि वह हमें इन विविध आभोगों के द्वारा अमृतत्त्व का स्तन्य पिलाना चाहती है। उसके लिए योग्य बना देती है। उसके उद्देश्य को ठीक ठीक

जानकर जो कुछ सामने आजाता है, उसका निर्लेप वृत्ति से स्वीकार करके कर्तव्यनिष्ठ होना आवश्यक है। जो प्राप्त हुआ उसके प्रति अनासक्त होकर, निर्लोभी होकर, फलाशा का त्याग करने से जीवन सम्पन्नता से युक्त होगा। विविध रूपमें, विविध प्रकारों से हमारे कर्मों में इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी तो प्रकृति का सन्तुलन बना रहेगा। उसकी सफलता होगी। फिर समूचे व्यक्त की मर्यादा को लाँघकर अव्यक्त की सीमा में प्रवेश हो सकता है, जहाँ आत्मसाक्षात्काररूप 'प्रसाद' सिद्ध है। देवताभाव फिर दूर नहीं। अमृतत्त्व की उपलब्धि यहीं है। प्रकृति का महात्म्य यहीं अनुभव किया जाता है। प्रकृति का गौरव पुरुषार्थ सिद्धि में है। जब तक वह नहीं तब तक प्रकृति की क्रीडा बोझ बनी रहेगी। उसके 'दर्शन' कराने के लिये वह प्यासी है। हमें वह पिपासा जाननी होगी। समझ लेनी होगी। अन्य कर्म तथा कर्तव्य के अर्थ उसकी दृष्टि में पुरुषार्थसिद्धि के प्रयत्न है, और कुछ नहीं। फिर न पाप है न पुण्य। जो है वह पुरुषार्थ सत्ता का साक्षात्कार। स्वभावगत धर्म का अनुष्ठान। जीवन की चरम सफलता। इसी दृष्टीसे आत्मतत्त्व की पहचान सम्भव है

श्री ज्ञानेश्वरी वस्तुतः अलौकिक ग्रन्थरचना है। जगह जगह पर रसोत्कर्ष का सुन्दर आविष्कार उत्कटता से अनुभव किया गया है। रस ही मानो वहाँ मूर्तिमान् हो गये हों। रस तथा रस की जगह एक रूप हैं। श्री नामदेव जी श्री भगवान से प्रार्थना करते थे कि आप भोजन कीजिये। श्री भगवान् उसकी

प्रार्थना स्वीकार करते थे। किन्तु आगे चलकर जब स्वरूप साक्षात्कार की साधना सफल हुई तब नामदेवजी 'ज्ञान' देव हो गये। स्वयं देवताभाव को प्राप्त हुए। फलस्वरूप अन्न भोजन करनेवाले वे ही रहे। श्री भगवान् केवल साक्षी। उनका प्रेम दोनों में एकता निर्माण कर सका। भक्ति सफल हो गयी। ज्ञान उदित हुआ। मोह नष्ट हुआ। चराचर जगत् में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार अनुभव करनेवाले श्री नामदेवजी रसलीन हुए। कुछ ऐसी ही स्थिति अनुभव करना आवश्यक है। वह ग्रन्थ-कर्तृत्व सचमुच विलक्षण है। उसकी तुलना अन्य किसी ग्रन्थ के साथ कभी नहीं हो सकेगी। अन्य ग्रन्थों की पढाई कभी परमोच्च समाधान नहीं दिला सकती। कितनी भी बार पढो किन्तु विकलता बनी रहेगी। भ्रांति हटती नहीं। बुद्धि जर्जर तथा क्लान्त सी रहती है। विवेक का पता नहीं चलता। करुण रस हो या और कुछ आन्तरिक पिपासा बनी रहती है। व्याकुलता आक्रोश करती है। जो रस हैं वे अपने तत्त्वों को पहचानते हैं कहाँ ? रस केवल एक ही है जो केवल 'परमात्मा' है। उसका पावन स्पर्श जब तक नहीं हो सकता, तब तक रसवत्ता पूरा समाधान नहीं दे सकती। श्री ज्ञानेश्वर महाराज का ही यह कर्तृत्व है कि आप रसिकत्व में–रसोत्कटता के साथ-परतत्व स्पर्श कराने की गवाही देते हैं। यहाँ रस अपने रूपमें, विशुद्ध स्वरूप में आत्मलक्षी है। यहाँ प्रत्यक्ष श्री भगवान की अमृत दृष्टि है। जो शब्द सामने हैं वे अमृत से गीले हुए हैं। अमृत से भी होड करने की पात्रता आपके शब्दों में है। विलक्षण शब्दसौष्ठव, प्रगाढ अर्थगौरव तथा परतत्त्वस्पर्श की क्षमता

केवल एक श्री ज्ञानदेवजी के इसी ग्रन्थ में है। रस अपनी पूरी महत्ता के साथ यहाँ उपस्थित हैं। पूरा समाधान देने को उत्सुक हैं। पूर्ण तृप्ति यहाँ है, पुष्टि है तथा शान्ति भी। सच्ची विश्रान्ति यहां है, परमसमाधान तथा तुष्टि का अनन्यसाधारण योग इस ग्रन्थराज के द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

तैसियां पांडुकुमरा व्याकुळा। मिरवितसे श्रीकृष्णा जवळा।
तो कृपावशें अवलीळा। रक्षैल आता ।।७३।।

अर्थ : श्री भगवान् के पास होनेवाले तथा विकलता के कारण जो गलितगात्र हैं, उस अर्जुन की रक्षा स्वयं श्री भगवान् सहज ही जरूर करेंगे ।।७३।।

व्याख्या : कर्तव्य कर्म के प्रति व्यामोह निर्माण होने के कारण अर्जुन जी सचमुच विकल हो चुके हैं। वे कुछ समझते ही नहीं। वस्तुत: कर्म करनेवाले, तथा करानेवाले श्री भगवान् ही हैं। वे इस जीवनरूप नाटक के सूत्रधार हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध पेड की पत्री तक हिलती नहीं। अैसी अवस्था में कर्तृत्व का बोझ सिरपर ढो लेने से क्या होता है। यह विकलता उसीका परिणाम है। उसकी विकलता सब निरख रहे थे। श्री भगवान् भी उसके पास हैं। वे भी जानते हैं कि यह क्यों कर हुआ है। इसकी यह जर्जरता उनके अस्तित्व से जरूर हट जायेगी। वे सच्चे सूत्रधार अधिष्ठाता तथा लीलाविग्रही हैं। श्री भगवान के मनमें दया है ही। वह कृपाभाव मूर्तिमान् हो गया है। श्री कृष्ण उन पाण्डवों की रक्षा जरूर करेंगे। इसमें

सहजता है कि जिससे एक ओर पाण्डवों की रक्षा तो दूसरी ओर स्वधर्म का अनुष्ठान कराने को उपयुक्त करना। भक्तों की रक्षा करना उनका अपना धर्म है और वह उनके लिये एक लीला है। जो उनकी शरण में हैं, उनकी रक्षा फिर सहज ही है। जो इस प्रकार आत्मीयता से ओतप्रोत हो भक्तों के लिये दौडधूप करने को भी तैयार हैं तथा अपनी लीला से उनका कल्याण करने को उत्सुक हैं अैसे श्री भगवान् को शतशः प्रणाम ।।७३।।

म्हणौनि तों पार्थु । मोह फणिग्रस्तु ।
म्यां म्हणितला हा हेतू । जाणोनियां।।७४।।

अर्थ : उसका यह कारण पहचानते हुए मैंने कहा कि श्री अर्जुन मोहरूप सर्प के द्वारा ग्रस्त है, त्रस्त है।

व्याख्या : भगवान् श्री कृष्ण की कृपा जिनका प्रधान यश है, अैसे पाण्डवों की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण जी जरूर दौडेंगे। वस्तुतः यह प्रसंग भी अैसा कठीन है कि जिसपर उपाय सुझाना किसी अैरे गैरे का काम नहीं। स्वयं श्री भगवान् इस प्रसंग को ठीक ठीक जानते थे। उनकी महिमा इसी प्रसंग के कारण अभिव्यक्त होनेवाली थी। प्रसंग के ही कारण ईश्वरावतार सम्भव है। यह उनके लिये एक खासा मौका था, जिसके द्वारा वे जीवन का पथ-प्रदर्शन कर रहे थे और साथ ही नया आदर्श निर्माण कर रहे थे. धर्म संस्थापना का उनका हेतु था. उनकी लीला के लिये यहाँ आवाहन था, यहाँ उनकी कृपामृतधारा बही.

वे उस के सिवा रह नहीं सकते. श्री अर्जुन की विचलित, सम्मोहित अवस्था देखकर भगवान की कृपा अमर्याद रूप से बहने लगी। अर्जुन की रक्षा करना उनका धर्म है, उनकी लीला हैं। इस प्रसंग के कारण उनके द्वारा महान् तत्त्वदर्शन व्यक्त होनेवाला है। अैसा तो हरदम नहीं हो सकता। कभी कभी कारणवश ही यह सम्भव है। यह मोहमयी समस्या सुलझाना आसान नहीं था। अत: वे स्वयं प्रदर्शक हुए, सारथी बने, कृपालु बन गये।। ७४ ।।

मग देखा तेथें फाल्गुनु। घेतला असे भ्रांती कवळूनु।
जैसा घनपडळीं भानु। आच्छादिजे ।।७५।।

अर्थ : अत्र यहाँ देखे कि 'फाल्गुन' (अर्जुन) सर्वथा भ्रांति से घिरा गया है। जिस प्रकार सूरज मेघों के पर्दों में आच्छादित होता है।।७५।।

व्याख्या : श्री भगवान् ने यहाँ श्री अर्जुन जी को देखा। अर्जुन जी सचमुच विकलता से व्याप्त हैं। पूरी तरह घिरे हुए हैं। वे स्वयं कुछ निर्णय कर ही नहीं सकते। अत: उनकी पूरी शरणता है। श्री भगवान् मानो यही चाहते थे। उसको 'हेतु' बनाकर कुछ नया ही ज्ञान कहना चाहते हैं। अर्जुन जी उनका 'हेतु' बन गये। हेतु पुर:सर जिसे स्वीकार किया वही 'फाल्गुन' है। यहाँ अर्थगर्भ विशेषण दिया है। अर्जुन पहले पहल श्री भगवान् की कृपा का कारण बने। फिर कृपा के ही कारण 'अनुफल्गु' बन गये। उनके पीछे जाने लगे। उनका [illegible]

करने को उत्सुक हुए। 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' ये आपके उद्‌गार उनकी पूरी शरणताही सूचित करते हैं। भ्रांति से बुरी तरह घिरे हुए अर्जुन जी को और कोई चारा नहीं था। उनकी ज्ञानदृष्टि नष्ट सी हुई थी। मेघों के आच्छादन के कारण सूरज भी कुछ काल तक ढँका जाता है। वस्तुतः जहाँ भगवान् है वहां 'विजय' भी। अर्जुनजी का यह दूसरा नाम 'विजय' श्री भगवान् की ही कृपा। अर्जुन भी श्री भगवान् के। वह सव्यसाची था। दोनो हाथों से समान रूपसे धनुष्य चलाने की क्षमता उसके पास थी। एक ओर स्वाधीन सामर्थ्य तथा दूसरी ओर श्री भगवान् का 'छत्र'। दोनों ओरसे यह 'सव्यसाची' स्वरूप उसे प्राप्त है। 'विजय' तो है ही। 'विजय' का संकल्प श्रीकृष्ण भगवान् है। विजय कहाँ दूर रहेगी ? ॥७५॥

तयापरी (तो) धनुर्धरु। जाला असे दुःखे जर्जरु।
जैसा ग्रीष्मकाळी गिरिवरू। वणवला कां ॥७६॥

अर्थ : उस प्रकार वह धनुर्धर श्री अर्जुन दुःख से पूरी तरह जर्जर हुआ। ग्रीष्मकाल के समय बडा सा पर्वत ही मानो वडवानल से प्रदीप्त हुआ हो ॥ ७६ ॥

व्याख्या : इस प्रकार श्री अर्जुन जी दुःख से परिपूर्णतया जर्जर हुए हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि ग्रीष्मऋतु में वडा सा पर्वत ही मानो वडवानल से प्रदीप्त हुआ हो। उसके अन्तर में दुःखकी ज्वाला प्रकट हुई है जो बूझने का नाम नहीं लेती। उससे खाली धुआँ नहीं निकलता, ज्वाला के साथ आग

सी फैली जा रही है। वह चारों ओर से दुःख से जर्जर होकर, म्लान सा दिखाई देता है। दुःख का साकार रूपही वह हो गया। कौन उसके दुःख को शान्त करेगा ? श्री भगवान् उसे निरख रहे हैं। प्रदीप्त गिरिवर को सुस्नात करने के लिये वर्षा होगी ही। भगवान् की दया बरसेगी ।। ७६ ।।

म्हणौनि सहजें सुनीळु कृपामृतें सजळु।
तो वोळलासे गोपाळु। महामेघ ।। ७७ ।।

अर्थ : अतः जो सहज ही श्याम वर्ण का है, वह श्री गोपाल मानो महामेघ होकर कृपामृत का पानी लेकर श्री अर्जुन की ओर मुडा ।। ७७ ।।

व्याख्या : श्री भगवान् को अर्जुन की दया आयी। उसपर कृपा करने का उन्होंने विचार किया। भगवान् योगेश्वर श्याम वर्ण के ही हैं। स्वभावतः ही आपका वर्ण श्यामल है। मेघों का वर्ण भी श्यामल। यहाँ श्री भगवान् क्या सामान्य मेघ हैं ? वे तो महामेघ बन आये हैं। उन्हें अर्जुन जी का मोह नष्ट करना है। उनकी अपनी महत्ता का पूरा अनुभव कराना है। योगेश्वर स्वयं धर्मरूप हैं। उनके अस्तित्व के साथ धर्म की सफलता जो समाधियोग वह सहजही सिद्ध हो जाती है। अमृतदृष्टि की दिव्यता जिसके पास है वह सचमुच संजीवनरूप होकर अर्जुन जी के लिये खडा है। धर्म के सभी फल सफल हो गये। धर्म मूर्तिमान् हैं श्री कृष्ण के रूपमें। श्री अर्जुन का दुःख देखकर वे सचमुच द्रवित हुए। कारुण्य का, दया का आविष्कार उनके द्वारा होने लगा ।।७७।।

ते सुदर्शनाची द्युति । तेचि विद्युल्लता झळकती ।
गम्भीर वाचा ते आयती । गर्जनेची ।। ७८ ।।

अर्थ : वहाँ सुदर्शन की द्युति मानो विद्युल्लता है जो चमकती दमकती है। साथ ही आपकी गम्भीर वाणी मेघगर्जन है ।। ७८ ।।

व्याख्या : वहाँ श्रीकृष्ण का अस्तित्व सचमुच सुदंश के रूपमें है। उनका दर्शन हो सुदर्शन है। सुदर्शन चक्र तो है ही। उसके तेज के कारण ऐसा लगता है कि यहाँ विद्युल्लता दमकती है। 'सुदशन' के माने हैं दंतपंक्ति। दंतपंक्तियों की आभा भी उसो प्रकार तेजस्वी है कि मेघों के बीच चमकनेवाली बिजली की पंक्ति हो। श्री भगवान की महिमा कौन जानें। उनको वाणी धीर गम्भीर है। मेघों के समान गर्जना है। मायारूप वनमें पशुओं को डराकर भगाने के लिये सिंह जिस प्रकार गरजता है उसी प्रकार श्री भगवान् माया के विविध प्रकारों को लुप्त कराने के लिये बोल रहे हैं। श्री कृष्ण रूप महामेघ—यह वेदान्त सिंह—जो गरजता है, जिससे माया का मोह, भ्रांति, भ्रम दूर कहीं भाग जायेंगे। सिंह के आने के पश्चात् सियार का महिमान कहाँ होगा ? ।।७८।।

आता उदारु कैसा वर्षेल । जेणें अर्जुनाचळ निवेल ।
मग नवी विरूढी फुटैल । उन्मेषाची ।। ७९ ।।

अर्थ : यह उदार किस प्रकार कृपा की वृष्टि करेगा, जिससे श्री अर्जुन रूप पर्वत शान्त हो जायेगा, साथ ही ज्ञानरूप उन्मेष

की नयी कोपलें उगेंगी ।

व्याख्या : अब तक तो दृष्टान्त ही कहा गया । अब श्री भगवान् अर्जुन से उपदेशकी बातें कहेंगे जिससे उसका अन्त:करण शान्त होगा । प्रदीप्त मन को सांत्वना प्राप्त होगी । उसका वडवानल उपदेशरूप अमृतवर्षा के कारण बूझ जायेगा । वहाँ नूतनता पनपेगी । ज्ञान का महत्त्व पाकर नयी कोपलें आयेंगी । अर्जुनाचल शान्त, सुस्नात होगा । यहाँ नये उन्मेष दिखाई देंगे । वसन्तश्री की आभा वहाँ प्रकट होगी । उसका भ्रम हट जायेगा । और ज्ञानदृष्टि के कारण वह अपने कर्तव्य के प्रति उत्सुक हो जायेगा । स्वधर्म के अनुष्ठान के लिये प्रयत्न करेगा ॥७९॥

ते कथा आइका । मनाचिया आराणुका ।
ज्ञानदेवो म्हणे देखा । निवृत्तिदासु ॥ ८० ॥

अर्थ : निवृत्तिदास श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं, कि जिससे मन को पूरा सन्तोष होगा, वही यह कथा सुनिये ॥८०॥

व्याख्या : यह समग्र कथन मन को समाधान पाने के लिये सुनिये । श्री निवृत्तिनाथ जी के श्री ज्ञानदेव गम्भीरता से कह रहे हैं कि सुनिये । वह उपदेश सामान्य नहीं । सचमुच वह श्रवणीय है । सुनने योग्य है । वह गम्भीर है, जीवन के सत्य का दर्शन करानेवाला वह कथन सुनने योग्य ही है । अतः अवधान दीजिये । फिर मन को पूरा सन्तोष होगा । सच्चा समाधान प्राप्त हो जायेगा । सच्ची शान्तता उदित होगी ॥८०॥

संजय उवाच–

एव मुक्त्वा हृषोकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स इति गोविंद मुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

अर्थ : संजयजी ने कहा–हे राजन्, धृतराष्ट्र ! शत्रुओं को तापदायक अैसे अर्जुन ने हृषीकेश भगवान से इस प्रकार कहा और श्री भगवान से यों कहने लगा कि "मैं नहीं लढूंगा।" फिर वह चुप बैठा ।।९।।

अैसें संजयो असे सांगतु । म्हणें राया तो पार्थु ।
पुनरपि शोकाकुळितु । काय बोले ।। ८१ ।।

अर्थ : इस प्रकार संजय जी कह रहे हैं, 'हे राजन् ! वह पार्थ पुनरपि शोकग्रस्त होकर कह रहा है कि ।।८१।।

व्याख्या : संजय जी राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार बार बार अर्जुन मोहग्रस्त हो रहा है । श्री कृष्ण भगवान् उसे फिर फिर से समझाते रहे हैं । तिसपर भी यह पुनरपि हुआ कि अर्जुन सचमुच घायल सा बनकर, हतबुद्धि होकर, मानो रो कर ही मोहमूढ हो गया । शोक से उसे कुछ सूझता ही नहीं । वह सचमुच दीन वन गया है । वह अपना ही रोना रोता है । क्या क्या कहता है सुनिये तो सही ।।८१।।

आइकें सखेद बोले श्रीकृष्णातें । आतां नाळवावें तुम्हीं मातें ।
मी सर्वथा न झुंजे येथें । भरंवसेनी ।। ८२ ।।

अर्थ : पार्थ जी खेदपूर्वक श्री भगवान से बोले 'अब आप मुझे किसी भी प्रकार युद्ध करने को न कहें। मुझसे यह सर्वथा असम्भव है। विश्वास दिलाता हूँ कि मुझसे यह नहीं होगा। ॥८२॥

व्याख्या : अब सुनिये, वह अर्जुन बहुत ही दु:खी हो गया। विकल बन गया। दु:ख से दब कर वह भगवान से कहने लगा कि, हे भगवान् ! आप कृपा करके मुझसे अनुरोध न कीजिये कि मैं युद्ध करूँ ! मैं मन:पूर्वक यह कह रहा हूँ। मुझसे यह होने का नहीं। मैं सचमुच युद्ध नहीं करूँगा। यह काम मेरी शक्ति के बाहर का है। न यह मुझे पसन्द है न मैं उसे स्वीकार भी करता हूँ। आपकी अवज्ञा हो रही है, तथापि जो मुझसे कभी हो ही नही सकता उसके बारे में मैं किस प्रकार विश्वास दिला सकता हूँ ? ॥८२॥

अैसें येकि हेळां बोलिला। मग मौनें करूनि ठेला।
तेथें श्री कृष्ण विस्मे पावला। देखोनि तयातें ॥८३॥

अर्थ : इस प्रकार यकायक वह बोला और फिर चुप्पी साधकर बैठा रहा। फिर श्री भगवान् उसे देखकर सचमुच आश्चर्य में डूबे रहे ॥८३॥

व्याख्या : श्री अर्जुन जी ने जल्दी जल्दी अपनी बात कह दी। फिर वह भावावेश के कारण नि:स्तब्ध सा बन गया। कुछ बोल ही न सका। मनही मन आक्रोश करता रहा। कुछ बोलताही नहीं। श्री भगवान ने देखा कि यह क्या हुआ ? वे

सचमुच आश्चर्य में पड़े । अवाक् हो गये । उसकी कृति के बारे में उन्होंने कभी अैसा नहीं सोचा था । अर्जुन बोलता है क्या, और कैसा होता है भ्रांतियुक्त ? कैसा भरोंसा है इसका ? उसका शौर्य, धैर्य सब कुछ गायब सा हो गया है । अर्जुन का अपनापन, उसका स्वाभाविक क्षात्र धर्म, तेज कुछ भी नहीं रहा । वह कैसा काम करेगा ? कुछ पहेली ही बनी । स्वयं श्री कृष्ण जी विस्मित हुए ।।८३।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ।।१०।।

अर्थ : हे राजन् ! दोनों सेनाओं के बीच विषण्ण हुए श्री अर्जुन से, कुछ हँसते हुए यह कहने लगे ।।१०।।

मग आपुल्या चित्तीं म्हणे । येथें हें काय आदरिलें येणें ।
अर्जुन सर्वथा कांहीं नेणें । काय कीजे ।।८४।।

अर्थ : फिर श्री भगवान् अपने मन में कह रहे हैं कि पार्थ ने यह क्या करना स्वीकार किया है ? वह कुछ भी नहीं समझता । अब क्या किया जाय ? ।।८४।।

व्याख्या : श्री भगवान् मन में विचार करने लगे कि पार्थ ने यह क्या आरम्भ किया है ? यह कैसा मोह है कि जिससे उसकी वृत्तियाँ सर्वथा विकलित हुई हैं । वह तो कुछ भी समझता नहीं । अब यहाँ क्या किया जाय ? ।।८४।।

हा उमजे आतां कवणीपरी । कैसेनि धीर स्वीकारी ।
जैसा ग्रहातें पंचाक्षरी । अनुमानी कां ।।८५।।

अर्थ : अब यह पार्थ किस प्रकार समझ सकेगा ? कब धीरज बाँधेगा ? जिस प्रकार पंचाक्षरी बाधा निरसन के लिये ग्रह के संबन्ध (या प्रेत-पिशाच्च के संदर्भ) में विचार करता है उस प्रकार श्री कृष्ण भगवान् (पार्थ के बारे में) विचार करते थे ।

व्याख्या : श्री भगवान् अर्जुन के बारे में संचित हुए । वे सोचने लगे कि यह कैसा काम करेगा ? उसका धीरज तो खो गया है। उसके लिये क्या करना होगा ? 'रजो रागात्मकं विद्धि ।' रजोगुण वस्तुत: आसक्ति प्रकट करता है । वह चेतना दिलाता है । चेतना दिलानेवाला चैतन्य तो यहाँ श्री भगवान् के रूपमें है । रजोगुण का प्रकर्ष किस प्रकार किया जाय यह विचार उन्हें सताता है । अर्जुन की देह 'तम' में व्याप्त है । मोह से मूढ हो गयी है । गलित गात्र होकर वह स्थिर है, कुछ करना नहीं चाहता । धीरज बाँधकर उससे कुछ काम करवाने के लिये वे सचमुच उत्सुक हैं, किंतु उसका मन विमूढ हो गया है । मोह के कारण मनमें अन्धेरा छाया है । चेतना तथा पौरुष का प्रयत्न यहाँ व्यर्थसा हो रहा है । केवल 'समझ' से काम नहीं हो सकता । समझ तो आन्तरिक होनी चाहिए न कि शाब्दिक । जब आन्तरिक ज्ञान उदित होता है तब शब्द भांडार निरर्थक है । वह पाने के लिये सच्चा पंचाक्षरी आवश्यक है जो सर्प से दंश का कारण पूछता है उसका विष परिणामरहित कर देता है । श्री भगवान् पंचाक्षरी के समान हैं । वे उसकी मूढतापर उपाय करना चाहते हैं । वे पहले पहल अनुमान कर रहे हैं कि यह क्यों कर हुआ है ? यह क्या है ? उसका ठीक

निदान हो जाने पर बाधा निरसन होने में देर कहाँ ॥८५॥

नातरि असाध्य देखोनि व्याधि । अमृतासम (दिव्य) औषधीं ।
वैद्यु सूची निरवधि । निदानींची ८६ ।

अर्थ : अथवा व्याधि असाध्य है यह देखकर वैद्य जिस प्रकार अमृत के समान दिव्यौषधी की योजना तुरन्त करना चाहता है ॥ ८६ ॥

व्याख्या : श्री भगवान् की इच्छा है कि अर्जुन जी उनकी सूचना के अनुसार कर्तव्य करें । 'किंतु यह होने का नहीं ।' इस प्रकार अपना निर्धार अर्जुनजी व्यक्त कर रहे हैं तब उसकी मूढता सीमा को लाँघ चुकी है । यह अब किसी भी प्रकार सुनेगा नहीं । फिर आप अैसा हि इलाज करना चाहते हैं कि जिससे वह अपना स्वभावज कर्म करता रहेगा ।

मर्ज जब लाइलाज दिखाई देता है तब वैद्यराज अैसीं संजीवनी का प्रयोग कर देते हैं कि व्याधि जरूर हटनीं चाहिए । दिव्यामृत औषधी उसी प्रकार की मानी जाती है । उसकी मात्रा जीवन की वृद्धि कराती है । किसी भी प्रकार विलम्ब न करते हुए वैद्यराज उसकी योजना कर देते हैं । दिव्योषधि वही है जो देह को झट व्याधिमुक्त कराती है । व्याधी की तीव्रता तथा उसकी अन्तिम अवस्था मृत्यु की सीमा रेषा है । अैसी तीव्रावस्था में ओषधि की योजना करने में विलम्ब करना याने (मृत्यु ही) है । भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन की व्याधि देखी । उसका चुप रहना तथा

कर्म के प्रति निरुत्साह देखकर इस मोहमूढ बीमार पर ठीक ही उपाय करना आवश्यक था । श्री कृष्णनाथ भी महान् वैद्यनाथ हैं । उनकी दृष्टि में अमृत, स्पर्श में संजीवनी तथा शब्दों में मन्त्रशक्ति जागृत है । अतः आपने सोचा कि इसकी व्याधि दूर करके, इसके मोह को हटाकर इसे 'शान्त' बनाना चाहिये । उसकी क्षुब्ध भावनाओं को प्रशान्तवाहिता में परिणत कर देना उचित होगा । कर्तव्यानुष्ठान के प्रति प्रेम निर्माण करके उसको व्यामोह के झन्झट से दूर हटाना होगा । भगवान की लीला है जो श्री अर्जुन जी को सुखसम्पन्न करेगी ।।८६।।

तैसें विवरित असे श्री अनन्तु । तया दोन्हीं सैन्यां आंतु ।
'जयापरी पार्थु । भ्रांति सांडी ।।८७।।

अर्थः उन दो सेनाओं के बीच भगवान् श्रीअनन्त इसका विचार करते हैं कि अर्जुन किस प्रकार भ्रांति रहित होगा ।।८७।।

व्याख्या : दोनों ओर सेनाऐं खडी हैं । युद्ध का प्रसंग है । दोनों अपनी महत्ता को प्रकट करने को उत्सुक हैं, असी हालत में अर्जुन जी का चकराना बिल्कुल गलत था । किन्तु यह अनहोनी बात हो रही थी । अपनी प्रतिष्टा तथा महत्ता का अनुभव कराने के हेतु अर्जुन को युद्ध से विराम लेना कहाँ तक उचित था ? जो प्रसंग उपस्थित है, जो संकट सामने है उसका मुकाबिला करना ही योग्य । उससे जी चुराना अनुचित है । बात समझने योग्य भी । फिर भी अर्जुन का मन अनुचित भावों तथा विकारों से व्याप्त है, क्षुब्ध है । पहले उसके मन को

स्थिर करने के लिये अमृत में सने हुए शब्दों को प्रयुक्त करना होगा। उसका धीरज बाँधना होगा। साहस बटोरना होगा। 'मत डरो, मत डरो' कह कर आश्वस्त करना होगा। उसका मन जो समेटकर, संकुचित होकर शरमा रहा है उसे उदार, धैर्यवान, शौर्ययुक्त, कर्तव्य कठोर करना आवश्यक था। उसकी वृत्तियों को पुचकारते हुए उसे सच्ची उत्तेजना देनी होगी। श्री भगवान् के होने के लिये, उसके अभिमान की योग्यता पाने के लिये, उसके होकर ही रहना होगा। बिलकुल निरभिमान, निरहंकार केवल अंकित सा रहकर। श्री अनन्त उसकी योग्यता के अनुरूप वह अर्जुन जी द्वारा कर्तव्यानुष्ठान करायेगा ही।
॥ ८७ ॥

तें कारण मनीं धरिलें। मग सरोख बोलों आदरिलें।
जैसें मातेच्या कोपीं थोकलें। स्नेह आथी॥ ८८ ॥

अर्थ : वह कारण लक्षित करते हुए श्री भगवान उससे कुछ कृतक कोप से बोले, जैसे कि माँ बच्चे पर क्रोध करती है किंतु उसका मन प्यार से भरा रहता है॥ ८८ ॥

व्याख्या : माँ बच्चे पर गुस्सा जरूर करती है किंतु उस समय प्यार ही प्रभावी रहता है। बच्चे की देह उसकी अपनी सी है। वह अपने आपको जिस प्रकार प्यार करेगी उससे बढ़-कर वह बच्चे पर करती है। कृत्रिमता ही केवल वहाँ है। स्नेह है, स्नेह की ही लालसा है। मित्रता की भी यही कहानी है कि उस प्रसंग में कोप होता भी है किंतु वह ऊपरी, सच्चा नहीं। होठों पर कोप है, मनमें प्यार है। कर्तव्य के प्रति आदर

निर्माण करने के लिये आप आदर निर्माण करना चाहते थे। अतः आप प्रसन्नतापूर्वक उससे बोलना नहीं चाहते थे। कृतक कोपसे ही वे बोले किंतु उसके परिणाम में प्रसन्नता थी। अर्जुन का सभी आदर करें इसी दृष्टि से आपने उससे बोलना प्रारंभ किया ।। ८८ ।।

कां औषधाच्या कडवटपणीं। जैसा अमृताची पुरवणी।
तें आहाच (न) दिसे परी गुणी। प्रकट होय ।।८९।

अर्थ : औषधि ऊपर से कड़ुवी होती है किंतु उसके गुण देखे जायें तो वे प्रत्यक्ष अमृत के समान होते हैं ।। ८९ ।।

व्याख्या : श्री भगवान् उससे बोलना प्रारम्भ करते हैं। मानो वे उसके मुंह में अमृत ही बरसा रहे हों। उसे सचमुच चतुर बना रहे हैं। वह औषधि सचमुच तुरन्त परिणाम कारी है। ऊपर से तो कडुआी है किंतु परिणाम में मधुरातिमधुर। अतः यहाँ कर्मयोग का अनुष्ठान अर्जुन की दृष्टि से ठीक नहीं किंतु वह 'योग' सर्वथा उपयुक्त, योग्य तथा अच्छा है। प्रत्यक्ष भगवान् कि जो स्वयं अमृतस्वरूप हैं, जिनकी विद्यमानता त्रिकालाबाधित है, उससे अैसा उपदेश कर रहे हैं कि जिसका अनुसरण करने से अमर्त्यभाव को अपनाने में देर कहाँ ? किंतु उनकी योजना सभी कैसे समझ सकते हैं ? वे कह देते हैं और अर्जुन जी सुन रहे हैं ।।८९।।

तैसीं वरवरी पाहतां उदासें। आंत तरी अतिसुरसें।
तियें वाक्यें हृषीकेशें। आदरिलीं ।। ९० ।।

अर्थ : अगर ऊपर से देखें तो अत्यंत उदास किंतु अंदरसे सचमुच सरस ऐसे वाक्य बडी आदरतासे हृषीकेश कहने लगे। ॥ ९० ॥

व्याख्या : उस प्रकार यहाँ भी श्री भगवान भी जो कुछ बोल रहे थे, वह कथन ऊपर से सचमुच उदास सा लगता था। जब हम अन्तरंग में प्रविष्ट होते हैं तब वे ही वाक्य अतिसुरस, रमणीयार्थ प्रतिपादक तथा तत्त्वदर्शो प्रतीत होते हैं। श्री भगवान के वे वाक्य ! देववाक्य। देवताभाव जागृत करनेवाले वाक्य। देवता के वे शब्द ! क्या कभी निरर्थक हो सकते हैं ? उनका कथन कभी झूठा असत्य तथा भ्रामक सम्भव है ? उनके कहने प्रति आदर रहेगा ही। श्री भगवान् अभी वही कहनेवाले हैं कि जिससे अर्जुन की भ्रांति हट जायेगी। उस पर जादू सा परिणाम होगा। अर्जुन जी से आप ठीक समझाकर कहेंगे। कथन की श्रेष्ठता उनकी वाणी में है। आदरयुक्त वाणी से आप कहेंगे। अत: हमें भी गौरसे, ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये ॥९०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अर्थ : जिनके संदर्भ में खेद करना योग्य नहीं, उनके बारे में तुम वृथा खेद कर रहे हो। साथ ही बडी (बुद्धिमत्ता) की बातें कर रहे हो। वस्तुतः मृत तथा जीवित के बारे में (बुद्धिमान) कभी खेद नहीं प्रकट करते ॥११॥

मग अर्जुनातें म्हणितलें । आम्हि आजी हे नवल देखिलें ।
जें तुंवा येथे आदरिलें माझारिची ॥ ९१ ॥

अर्थ : श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा 'हमने आज यहाँ सचमुच आश्चर्य ही देखा कि जो तुमने (यहाँ) इस प्रकार बीच में (संग्राम के बीच) कुछ और ही प्रारम्भ किया है ॥९१॥

व्याख्या : इस प्रकार अर्जुन जी की वृत्तियाँ जब अत्यंत दीनता को प्राप्त हुई, तब उनकी अवस्था देखकर श्री भगवान् तो क्रुद्ध नहीं हुए किंतु उन्हें उसके प्रति प्रेम ही पैदा हुआ। जो बात हुओ थी वह स्वाभाविक थी। मनुष्य की वृत्तियाँ उसे 'मनुष्य' ही रख देती है। मनुष्य अपनी मनुष्यता न छोड़ें इस लिये वे सजग रहती हैं। मन के संकल्प-विकल्प मनुष्य जीवन की उदात्तता में बाधक होते हैं। वे कभी स्थिरता नहीं पासकते। अत: संसृति का सर्जन का खेल निरंतर चलता रहता है। प्राकृतिक प्रपंच बना रहता है तभी वृत्तियों का क्षोभ है, रज तथा तमो गुणों का कार्य जारी रहता है। अत: मनुष्य देह में स्थित आत्म तत्व की पहचान जबतक नहीं तबतक कभी आशा है, तो कभी निराशा। कभी विकास है तो कभी विनाश। बुद्धि ठीक निर्णय नहीं कर सकती। मन के संकल्प-विकल्प ज्यादातर विकल्पही होते हैं, जो संदेह को पुष्टि देते रहते हैं। आत्मनिष्ठा तो रहती ही नहीं। फिर जो किया जाता है वह कर्मबंध से मुक्त नहीं होता। फलाशा से रहित हो कर कर्म होने के लिये विशुद्ध वृत्ति का उदय होना अत्यंत आवश्यक है। यह वृत्ति तभी संभव है जब बुद्धि आत्मवान हो जायेगी। दीप जलेगा तो प्रकाश अपने

आप फैल जायेंगे। अंधेरा हटाने के लिये और किसीकी जरूरी नहीं। अत: अर्जुनजी की विकलता स्वाभाविक थी, जिस के संदर्भ में भगवान् को भी अनुकंपा थी।

बुद्धि की निष्ठा जब विकसित हो जाती है, तथा वह जब अपने अध्यवसाय का सही अर्थ स्वीकार करती है तब उस के निश्चय निर्लेप तथा निश्चल हो सकते हैं। बुद्धिकी आत्मस्थिति सचमुच अभंग रह सकती है। उसकी शुद्धतापर यह निर्भर है। जहाँ शुद्धता के कारण आत्मनिष्ठ बुद्धि सुनिश्चय कर देनी है तब वह निर्भीक हो जाती है। 'अभय' का वरदान यहाँ सहजही प्राप्त है। तप, साहस तथा कठोर कर्तव्यनिष्ठा आदि यहाँ अपने स्वाभाविक रूपसे बुद्धि को बल देते हैं। जो गृहस्थी है, प्रापंचिक है वह अपनी स्थिति को पहचान नहीं सकता। अत: आवश्यक है कि वह भी तप, साहस, तथा कर्तव्यानुष्ठान करे जिससे उसके जीवन में भी वह निष्ठा पनपती रहेगी। उसके लिये यह दिनचर्या हो सकती है कि जो उसकी बुद्धि, को अन्तर्मुख बना सके। अन्तर्मुख बुद्धि आत्मनिष्ठा पायेगी ही।

जब ऐसा हो जाता है तब जीवन के संघर्ष सचमुच सुसह्य हो जाते हैं। उनकी यातनाएँ अनुभव नहीं की जातीं। जो जैसा प्रसंग उपस्थित हो जाता है उसे उसी रूप में समत्व भाव से स्वीकार किया जाता है। उसके सभी कष्ट तीव्रता से अनुभव नहीं होते। वहाँ श्रम भी स्वीकार्य हैं, दु:ख सुसह्य है, जीवन संघर्षमय होने पर भी किसी भी रूपमें तीव्र पीडा नहीं देता। वहाँ संवेदना है किंतु उसकी वेदना नहीं। वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने

को उत्सुक रहती हैं। बुद्धि सजग हो जाती है। वहाँ शब्द ॐ कार के अनुसार हैं। सच्चे अनुभव की क्षमता पाने के लिये देह की कण कण मे उत्कंठा है। शब्दशक्ति की महत्ता यह है कि वह परावाणी से परे होकर आत्मध्वनि अनुभव कराती हैं। बहुत कुछ पास ही रहता है वह आत्मतत्त्व। अनुभव करनाही शेष रहता है। जब पहचान हो जाती है तब 'तत्' 'त्वं' हो जाता है। फिर सर्वत्र आत्मतत्त्व काही प्रकाश है 'विष्णु' देवता का विशेष है कि वह सवत्र व्याप्त है। व्याप्त रहना, प्रकाशमान रहना उसकी अपनी विशेषता है। जो सर्वत्र व्याप्त है वही अपनी देह में भी स्थित है। जो ब्रह्माण्ड में समाया है वही अपनी देह में है। इस देह के द्वारा, प्रकृति की क्रीडा के अन्तर्गत होकर भी, गुणों के उत्कर्ष के साथ स्वरूपानुसंधान का संकेत सदैव लक्षित है। प्रकृति तो गुणों के परमोत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है। किंतु उसकी क्रीडा में आत्मदर्शन की उत्कंठा कभी दबी नहीं रह सकती। मौका पाने पर वह उछलती हुई तीव्र संवेग के साथ साधक को ऊपर उठाती है और 'वैष्णव जीवन' की गहरी अनुभूति ला देती है। भिन्न भिन्न वासनाएँ आभोग का सुख अनुभव कराती हैं। जीवन निष्ठा जब भोग से विन्मुख होकर त्याग की ओर झुकती है तब वे वासताएँ केवल भोग की लालसा बढाती नहीं। वासनाओं के अन्तर्गत श्री भगवान् की इच्छाएँ साकार होकर अपनी विशेषताओं स्पष्ट करती हैं। फिर जो कुछ है वह चाहे वासना हो, विकार हो या इच्छाओं वे सभी 'वासुदेव' का ही एक किरण मात्र है। जहाँ देखें वहाँ श्री भगवान की लीला अपनी लहर उछाल रही

है। हरेक प्रसंग नये रूपमें, नयी उमंग से अनुभव किया जाता है जो केवल श्री भगवान् के साक्षात्कार का ही निमित्त है। किंतु यह समझा नहीं जाता। हम अपने आभोग प्रधान जीवन में व्यस्त रहते हैं, फिर आत्मनिष्ठा, जो त्याग प्रधान है, कैसे जाग उठेगी ?

संसार की प्रवृत्ति मूलतः प्रकृति की क्रीडा है। गुणों के प्रकर्श में जीवन का 'सर्जन' अनुभव होता है। गृहस्थ धर्म जीवन की सर्जनशीलता नियामक है। एक ओर जीवन की अखंडता को बनाये रखता है तथा दूसरी ओर मुक्ति का मार्ग, जो त्यागप्रधान है, स्पष्ट दिखलाता है। जब तक यह कार्य अनुष्ठान रूपमें निष्काम होकर हम स्वीकारते नहीं, तब तक उसका आचरण केवल भोगमात्र रह जाता है। धर्म से ज्ञान तथा विज्ञान दोनों की ओर संकेत हो जाता है। जब तक धर्म धारणा नहीं तब तक निष्ठा नहीं। अर्जुन जो क्षात्र धर्म के तथा स्वधर्म के अनुष्ठान करने में हिचकिचा रहे हैं। वे यह नहीं समझते कि इसका अनुष्ठान न केवल ऐहिक के उद्देश्य से है किंतु वह मोक्षकारी भी है। कमसे कम यश, श्री तथा न्याय की भी पार्श्वभूमि उसके लिये है। श्री भगवान् मानते थे कि अर्जुन यह समझेगा किंतु उनकी आशा व्यर्थ थी। इस पर जो इलाज आवश्यक है वह सचमुच असामान्य होना चाहिए। उसको निमित्त करके आपने अत्यन्त गहराई में डूबकर तत्त्वज्ञान के अमोलरत्न सब के लिये दे दिये हैं। समस्या का समग्र विवेचन करते हुए मनोमालिन्य दूर करके बुद्धि की शुद्धता तथा निर्णय की क्षमता प्रदान करना श्री भगवान् का प्रधान

उद्देश्य है।

यह भी सम्भव है कि श्री अर्जुन को निमित्त करके उसके द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति श्री भगवान् के द्वारा होगी। अगर वे चाहेंगे तो अर्जुन के तनु-मन पर उचित असर करके वे यह कार्य पूरा करने में सचमुच समर्थ हैं। जब बच्चा सीखने लगता है तब वह कई साल पढताही रहता है। बार बार उसे पाठ-शाला जाना पडता है। वहाँ पढाई होती है, संस्कार किये जाते हैं, उसके व्यक्तित्व का विकास पूरी तरह हो इस लिये पर्याप्त प्रयत्न होते रहते हैं। श्री भगवान् के मन में अर्जुन के प्रति यही स्नेह है। अतः इस प्रसंग के कारण उसकी बुद्धि शुद्ध, निर्मल तथा निर्णयक्षम होने के लिये वे कटिबद्ध हैं। आप जो उपदेश दे रहे हैं, जिस प्रकार कह रहे हैं तथा उसके मन में धीरज बांध रहे हैं, उनकी कभी तुलनाही नहीं हो सकेगी। जो कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा कर्णामृत अनायसही अर्जुन जी पा रहे हैं। उस अमृतवाणी से कर्तृत्व का अभिमान तो रहेगा ही नहीं, किंतु जो प्राकृतिक जडता है वह हटेगी। आत्मिक प्रेरणा प्रकृति को सत्त्वस्थ बनायेगी। सत्त्वदर्शन होते ही कर्तव्य कर्म के फल के प्रति अनासक्ति होगी। कर्म तो जरूर होंगे किंतु फलाशा नहीं। केवल एक निरभिमान कर्म। श्री भगवान् के दर्शन अमोघ परिणामकारी हैं उन्हीं की कृपा द्वारा बुद्धि में वह आत्मदर्शन अनुभव किया जायेगा। आपकी कृपा जो है, नहीं तो अर्जुन जी विकल, विमनस्क, कर्तव्य विन्मुख तथा पराभूत रहते। जब यह कृपा उदित है तब तन्मय होकर ही, उसके अंकित रहकर, केवल साधन मात्र बन कर जीवन जीया

जाता है। वहाँ पगपगपर परमात्म दर्शन है, उसका आधार है, उसकी बांसरी की ध्वनि गूंज उठती है हर जगह। कहीं जाना नहीं पडता, कहीं से आना आवश्यक नहीं। जो कुछ सत्ता है वह होकर हो रहती है अनुभूति के रूप में। इसमें व्यर्थ की बात नहीं, बेकार का काम नहीं, मन का तनाव नहीं, बुद्धि की थकान नहीं। सब कुछ सहज रूपमें सहज ही स्वीकार्य है। जहाँ शब्द ॐकार के गीत हैं, अर्थ आत्मीयता के निर्झर। दर्शन भगवान का, सुगन्ध उसकी कृपा का, आस्वाद है उसी रस का। स्पर्श में आश्वस्त करते हैं आप। यह जहाँ है, जिसको नसीब हुआ है उसके भाग्य पर देवता भी लालायित हैं।

यह तो स्पष्ट है कि श्री अर्जुन निमित्त है, प्रकट करना है तत्त्व दर्शन। जीवन की नित्यनूतन अनुभूति का आलोक। अतः श्री भगवान् जो कह रहे हैं उसमें श्री सरस्वती की वीणा का गूंजन है। वह वीणाधारिणी, वरदायिनी माता शब्दों के रूपमें पूरी तरह प्रकट है। श्री गोपाल कृष्ण इस प्रसंग के अधिष्ठाता हैं तथा व्याख्याता भी। आप कह रहे हैं "हे अर्जुन! तुमने क्या प्रारम्भ किया है? दुःख किस बात का? क्या यह सचमुच शोचनीय है? वस्तुतः इस सन्दर्भ में दुख करना अनुचित है। तुम बोलते हो पाण्डित्य के साथ किन्तु करते हो बालक जैसा। तुम्हारा 'प्रज्ञावाद' केवल 'बौद्धिक' है जिसमें अनुभूति की गहराई नहीं। अतः तुम दुःखी हो। जीना, जन्मना या मरना इसके बारे में क्या सुख? क्या दुःख? जन्म ने से न उल्हास की कोई बात है या मरने से शोक करने की। जिसकी बुद्धि आत्म-

निष्ठ है वही पण्डित है। ऐसा जो है वह कभी शोकग्रस्त नहीं होता। आत्मभाव विद्यमान रहता है। वह कहाँ नष्ट होता है? जो 'है' और फिर 'नहीं' वह काहे का सत्य? सत्य सर्वदा विद्यमान है। उसकी सत्ता कभी बाधित नहीं हो सकती। 'सत्ता' ही उसका स्वभाव है। फिर जो अब हैं और कल नहीं होंगे उनके बारे में शोक करना कहाँ तक उचित है? पण्डित कभी शोकग्रस्त नहीं हो सकते।

वरिष्ठ कभी कभी कनिष्ठो को कोसते भी हैं। उन्हें कुछ कहना पडता है क्यों कि उनकी दृष्टि काम की सफलता की ओर रहती है। जो काम से जी चुरायेगा या काम अधूरा छोडकर जायेगा या काम तो करेगाही नही अैसे से कुछ कहना आवश्यक ही रहता है। वरिष्ठ चाहेगा कि यह काम पूरा होना आवश्यक है। उसमें खण्ड न होने पाये। यहाँ जो कर्तव्य सामने है वह श्रीभगवान् की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अर्जुनजी अपने कर्तव्य को छोडकर, उस से मुंह मोडकर जा रहे हैं। प्रसंग तो बहुतही गंभीर तथा संघर्षमय है। इस आपत्तिकाल में उन्हें कहना ही पडा कि अर्जुन! तुम तो बहुत बडे शूर, वीर हो। क्षत्रिय को अनुचित कर्म तुझे प्राप्त हुआ है। तुम क्यों कर करुणा से पीडित हुए हो? अनुकम्पा तुम्हें शोभा नहीं देती। तुम्हारे इस बर्तावपर मुझे सचमुच आश्चर्य हो रहा है। इस से तुम्हारी वीरता नहीं सोहती। तुम अनुचित बातों की ओर ध्यान दे रहे हो। क्षात्रधर्म को त्याग कर, शौर्य तथा साहस को छोड कर तुम यहाँ बैठे रो रहे हो। फिर तुम्हारे बारे में कौन अभिमान

करेगा ? आदर कहाँ रहेगा ? मैं तो समझ ही नहीं सकता कि तुम्हें क्या कहूँ। तुम अपनी आत्मसत्ता जानते नहीं और प्रकृति के - विकारों के अधीन हो रहे रहे हो। स्वभावज कर्तव्य-कर्म को छोड रहे हो। मोहमयी प्रकृति अपने तमोगुण द्वारा तुम्हें अधीन कर रही है। तुम तो पहचानते नहीं। प्रगति के बीच शत्रु जिस प्रकार बाधा निर्माण करते हैं उसी प्रकार प्रकृति के विकार तुम्हारे उत्कर्ष में बाधक हो रहे हैं। वे तुम्हें कर्तव्य से भ्रष्ट कर रहे हैं। विकारवशता के कारण तुम व्यर्थ डर रहे हो। यह जी चुराना उनका परिणाम है। पहले निर्भय हो जाओ। निडरता से इन विकारो को हटाओ। कर्तव्य के प्रति एकाग्र हो जाओ। निष्ठा रखो। फिर उनके द्वारा कुछ बिगाडा नहीं जायेगा। स्वावलंबन ही महत्व का है। स्वधर्म ही अनुष्ठेय है। स्वभाव कभी त्याज्य नहीं। तुम यह जानते हो। फिर भी तुम अज्ञानीसा बर्ताव कर रहे हो। जो सचमुच सोया है उसे जागृत करना कठीन नहीं, किंतु जो सोया ही नहीं उसे किसप्रकार जागृत करेंगे ? दस आदमी हैं। गिनती करनेवाला अपने को गिनना भूलता है, फिर रहते हैं नौ। क्या अचरज की बात है ! हैं तो दस किंतु भूल अपने को भूलने से है। वही प्रकार तुम कर रहे हो। तुम अपने को गिनते नहीं। स्वधर्म दूसरों के लिये मानते हो। तुम क्षत्रिय हो। वीरोचित कर्म तुम्हारा स्वभाव है। तुम उसे भूल बैठे हो। अलिप्त रहना चाहते हो। यह कहाँतक उचित है ? जिसकी वृत्ति शान्त है, जो स्वभाव से ही सरल तथा सदाचारी है। किसी के लेन देन में नहीं। अपना रास्ता सीधी तरह तय करने वाला है। सहृदय

तथा निर्मल मन का ऐसा व्यक्ति जब किसीसे जोर से झगडा शुरु करेगा, या गालियाँ देता रहेगा तो दूसरे लोग अचरज में डूबेंगे। 'अरे यह कैसा होता है! यह तो सरल आदमी है फिर झगडा कैसे करता है? गालियाँ क्यों देता है। मतलब यह कि बात अनहोनी हो रही है। तुम उसी प्रकार अनहोनी कहानी कह रहे हो। अपने स्वभाव-स्वधर्म को त्यागकर तुम कुछ पाओगे नहीं। व्यर्थ रो रहे हो। अत: आलस्य छोड दो। विकारों को हटाओ। अपने ही अधीन हो कर आत्मबल से कर्तव्यनुष्ठान करते रहो ॥९१।

तूं जाणता जरी म्हणविसी। तरी नेणिवेतें न संडिसी।
आणि सिकवूं म्हणों तरी बोलसी। (तूं) बहुसाल नीति ॥ ९२ ॥

अर्थ : तुम अपने को ज्ञाता समझते हो किंतु अज्ञान को त्यागते नहीं हो। अगर तुम्हें कुछ सिखाऊँ तो तुम स्वयं विविध प्रकार से नीति की बात कह रहे हो। ॥९२॥

व्याख्या : तुम अपने को ज्ञाता समझते हो। जहाँ ज्ञातृत्व है वहाँ उसका उपयोजन किसी कर्म से होना आवश्यक ही है। जो ज्ञान काम का नहीं वह काहे का ज्ञान? तुम उसे कर्म में प्रयुक्त नहीं करते। जो क्रियावान् है वही पण्डित है। अत: निष्क्रियता की बात ज्ञान नहीं। दूसरी बात यह है कि कहते हो "मैं कुछ समझता नहीं फिर भी मैं युद्ध नहीं करूँगा।" कैसी परस्पर विरुद्ध बातें कह रहे हो। जो तुम समझते नहीं उस सन्दर्भ में निर्णय भी कर बैठे हो। अब मैं तुझसे क्या कहूँगा? कहना

जाऊं तो तुम बडी बडी बातें करते हो। नीति के पाठ सिखा रहे हो। कमसे कम यह तो स्पष्ट करो कि हम किस प्रकार कहें ॥ ९२ ॥

जात्यंधा लागे पिसें। मग तें सैरा धांवे जैसें।
तुझें शहाणपण तैसें। दिसत असे ॥९३॥

अर्थ : जो जन्मत: अन्ध है, तिसपर पागल भी हुआ है फिर वह जिस प्रकार स्वैर दौडता रहता है उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धिमानी है ॥ ९३ ॥

व्याख्या : तुम्हारा यह बर्ताव सचमुच पागल जैसा है। जो जन्मत: अंध है और पागल भी है, वह जिस प्रकार स्वैर, निरुद्देश्य दौडता है वैसे तुम कर रहे हो। पागल को ज्ञान तो नहीं होता और अंध होने पर तो उसके चलने में क्या कुछ रीति या उद्देश्य हो सकता है ? तुम सयाने हो किन्तु यहाँ तुम्हारा बर्ताव सचमुच पागल अन्धे जैसा दिखाई दे रहा है। तुम्हारी देहबुद्धि अब तो जाड्य से युक्त है जहाँ जडता है वहाँ बुद्धि सच्चे ज्ञान को पा नहीं सकती। जहाँ खाली अज्ञान ही है वहाँ बर्ताव निरुद्देश्य, स्वैर तथा तम से व्याप्त रहेगा। जात्यंधता तथा पागलपन दोनों में ज्ञान कहाँ है ? फिर बुध्दि को अन्धेरे ने घेर लिया है। ज्ञान का किरण नहीं, रास्ता ठीक रूप से तय नहीं फिर क्या रहेगा ? देह की जडता हटी नहीं तब तक सच्चा ज्ञान नही। वहाँ श्री सरस्वती का वीणारव सुनाई नहीं देता। तुम्हारी बुध्दिमानी काम की नहीं ॥ ९३ ॥

तूं आपणपें तरी नेणसी। परी या कौरवांतें शोचूं पावसी।

हा वहु विस्मे आम्हांसी । पुढतपुढती ॥९४॥

अर्थ : तुम स्वयं तो जानते नहीं, तुम स्वयं कौन हो यह जानते नहीं फिर भी कौरवों के कारण तुम शोकग्रस्त होते हो। मुझे सचमुच वहुत ही अचरज हो रहा है।

व्याख्या : यह तुम्हारा अज्ञान तुम्हें इसीप्रकार संदेहयुक्त बना रहा है। तुम्हारे मन में संदेह है और अनुभूति नहीं। तुम जो बोलते हो वह सच्चा पान्डित्य नहीं कि जो आत्मनिष्ठ होता है, क्रियावान् बना देता है। तुम्हारा ज्ञान शाब्दिक है न कि आत्मिक। तुम ऊपरी बात को महत्त्व देते हो। शब्द को महत्त्व दे रहे हो। उसे ही देवता मान बैठे हो। शब्दान्तर्यामी जो अर्थ-तत्त्व है, जो अनुभव से ही समझा जाता है वह तुम स्वीकृत नहीं करते। ऊपरी बातों से क्या उपयोग हो सकता है? बुद्धि का महत्त्व ठीक रूपसे ज्ञात करके, उसको निर्लेप तथा निर्मल करते हुए, उसकी महत्ता व्यापक बनाते हुए, आत्मनिष्ठा जगाकर उसे आत्मलीन करना आवश्यक है। उस ओर तुम दुर्लक्ष कर रहे हो और खाली प्राकृतिक जाड्य का स्वीकार करते हुए उसके परिणामस्वरूप चाहे कुछ भी बोल रहे हो। अचरज होता है तुम्हारे कथनपर! आत्मनिष्ठा में नित्यत्व है तो देहबुद्धि में अनित्यता। 'मैं देह हूँ', 'देह की ममता', आदि का अनुभव करते रहने से शोक ग्रस्त रहना पडता है। इससे लाभ तो दूर रहा, हानि ही होती रहेगी। देहवाद तथा दैववाद पौरुष का मार्ग नहीं। वह पलायन मात्र है। तुम इससे अज्ञान अपनाते हो, अनुचित बातों का गौरव करते हो जिससे क्या

हो सकेगा ?

यह स्पष्ट नहीं होता कि तुम्हें किस बात का शक है ? कैसा संदेह मनमें पैदा हुआ है ? तुम्हारे इस आचरणपर अचरज ही है। तुम स्वयं जानते नहीं और मेरे कहने पर विश्वास नहीं। ऐसा क्यों ! क्या तुम इस प्रकार सोचते हो कि 'श्री भगवान् सचमुच दयालु हैं ? क्या वे मुझपर कृपा करेंगे ? आपकी कृपाके योग्य मैं कहाँ तक हूँ ? वे मेरा स्वीकार करेंगे ? क्या मुझसे बोलेंगे ?" क्या यह कहने की बात है ? तुमने तो सन्देह के कारण सब कुछ गँवाना प्रारम्भ किया है। सन्देह से कुछ बन नहीं सकता। पूरा विश्वास होना चाहिए। अपनी पात्रता के बारे में भी सन्देह न हो। आत्मविश्वास होना चाहिये। मैं तो केवल कृपा करने ही बैठा हूँ। जो मेरी शरण है, उसकी उपेक्षा कैसी करूँगा ? मुझे सब की याद आती है किसी को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता। हरेक की यहाँ परख होती है। निष्ठा देखी जाती है। संकट आ जाते हैं। दुःख सहने पडते हैं। फिर भी ईश्वरनिष्ठा निरतिशय आवश्यक है। संघर्ष में या उत्कर्ष में, सुख में या दुःख में, जो मेरी याद करते हैं उन्हींकाही मैं हूँ। उनके अधीन हूँ। तुम्हें संदेह क्यों हो रहा है ? इससे क्या पाओगे ? मैं तो भक्तों की राह देखनेवाला हूँ। भक्तो की कभीं उपेक्षा नहीं होगी। अतः स्वावलम्बन आवश्यक है। तुम निर्धार करो। निष्ठा जगाओ जो 'स्वामी'त्व चाहता है उसे पौरुष, साहस आवश्यक है ही फिर श्री तथा सरस्वती, कीर्ति तथा दीप्ति उसके पास अनायास रहेंगी। विभूतिभाव तभी सम्भव है जब निष्ठा प्रेरक हो जाती है। तुम्हारे जैसा

पलायनभाव वहाँ शोभा नहीं देता। निष्ठा प्रीति को परिपुष्ट करती है, स्वामीत्व का गौरव करती है। उसकी राह देखना आवश्यक नहीं होता। बिना किसी निमन्त्रण वह स्वयं हाजिर है।

तुम तो अकारण ही शोकग्रस्त हुए हो। उसके आवर्त में पड़े हो। निर्लेप बुद्धि से विचार तक नहीं कर सकते। स्वयं फँसे हो और अपनी दुरवस्था पर रो रहे हो। यह त्रेधा क्यों हुई ? क्यों ऐसे सोचते हो ? जो सरल बात है वह त्याग रहे हो। और फिर तुम्हीं रो रहे हो। इस प्रकार शोकग्रस्त होकर कुछ लाभ नहीं। तुम अधिक ही उसमें व्यस्त होते रहोगे। फिर उससे छुटकारा नहीं। खाली शब्द किसी काम के नहीं होते। बात काम की हो, काम की अपेक्षा बातें न हों। तुम दूसरा प्रकार जानते हो। कर्तव्य छोड रहे हो। स्वधर्म की हानि नहीं होती, तुम्हारी अपनी हानि है। यहाँ कोई किसी की मदद नहीं करेगा।

"तुम मुझसे पूछ रहे हो कि इससे पार कैसे हो जाऊँगा। बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि तुम्हीं स्थिर रहते हो और पार हो जाने की खाली बात करते हो। एक ओर तुम मेरी शरण में आये हो तो दूसरी ओर और कुछ विचार करते हो। तुम्हारी शरणता पूरी नहीं। उसमें प्रकृति का जाड्य है, बुद्धि में संदेह है, मनमें विकल्प है और देह तो कुछ भी करने को उत्सुक नहीं। ऐसी अवस्था में तुम्हें किस प्रकार समझाना ? यह तुम्हारा अनुसरण अनुचित है। स्वात्मबल तथा आत्मनिष्ठा को

त्याग कर तुम स्वधर्म छोड रहे हो और मेरी शरण में आना चाहते हो। मुझे सचमुच विस्मय है तुम्हारे इस बर्ताव पर।" श्री भगवान का यह कथन सुनकर अर्जुन जी सचमुच घायल हो गये। आहत होकर उस कृपालु श्री भगवान् की प्रार्थना कर रहे हैं। क्षणमें वे दया की याचना करते हैं, फिर दूसरे ही क्षण युद्ध न करने का निश्चय व्यक्त करते हैं, तीसरे क्षण नीति की बातें कह देते हैं तो चौथे क्षण बिलकुल अज्ञानी सा वक्तव्य कर देते हैं। इस प्रकार के आविर्भाव देखकर श्री भगवान् सचमुच दयासे भरे आये। उन्हें यद्यपि इस बात का अचरज है फिर भी उनके मन में 'कौतुक' छिपा है जो माँ के मन में अपने प्यारे बच्चे के प्रति होता है ॥९४॥

तरी सांग पां अर्जुना। तुज पासूनि स्थिती या त्रिभुवना।
हें अनादि विश्वरचना। तें लटिके कायी ? ॥९५॥

अर्थ : हे अर्जुन ! तुम्हीं कहो कि क्या इस त्रिभुवन की स्थिति क्या तुमसे हो गयी है ? यह अनादि अैसी विश्व रचना क्या झूठ है ? ॥ ९५ ॥

व्याख्या : फिर श्री भगवान् स्पष्ट रूपमें कहने लगे "हे अर्जुन तुम्हीं कहो कि क्या यहाँ जो त्रिभुवन निर्माण हुए वे क्या तुम्हारे कारण ? उनकी स्थिति क्या तुम्हारे लिये है ? उनकी स्थिति जिसके कारण है वही तुम्हारी मनुष्यता का भी कारण है। तुम्हारा जीवन उसीके संकेत पर निश्चित है। यह विश्व-रचना तथा पिंडरचना दोनों में वही एक तत्त्व है। समचे

त्रिभुवन का विकास होने पर भी वह तत्त्व सर्वथा अगोचर है। प्रकृति के अन्यान्य आविष्कार अभिमान के कारण कर्तृत्वभाव को धारण किये हुए हैं दूसरे को पीछे ढकेलकर अपने को आगे ले जानेवाले व्यवहार का ही यहाँ चमत्कृतिपूर्ण खेल है। क्या इसका आधार तुम्हीं हो ? त्रिभुवनों की स्थिति का तत्त्व क्या तुम्हीं हो ? तुम्हीं के द्वारा क्या यह निर्माण हुआ ? तुम्हारे रूपमें उस विश्वरचना का आविष्कार है। तुम क्या उसे अनुभव करते हो ? तुम में जो है वही विश्व में है, फिर क्या तुमने वह अनुभव किया है ? वह सत्य या सत्ता समूचे विश्व की नियंत्रक है। तुम वहाँ किस प्रकार हेरफार कर सकते हो ? तुम्हारे करने से या कराने से क्या हो सकता है ? तुम्हारा वृथा अभिमान है। तुम अपनी बुद्धि को इस तथ्य को समझने योग्य करो उसको विश्वव्यापक बनाओ। तब तुम समझोगे कि तुम केवल निमित्त मात्र हो। विश्वरचना, विकास तथा विलय उस महान् सत्य के आविष्कार हैं।" जब अर्जुन जी ने यह सुना तो आप सचमुच ग्लानिसे भर आये। अपनी तुच्छता का अनुभव करने लगे ॥९५॥

एथ समर्थ एक आथी। तयापासूनि भूतें होती।
तरी हें वायाचि काय बोलती। जगामाजीं ॥ ९६ ॥

अर्थ : वस्तुत: यहाँ एक ही शक्तिमान् (स्रष्टा) है जिससे भूतमात्र निर्माण होते हैं। यह जो जगत् में कहा जाता है वह क्या व्यर्थ है ? ॥ ९६ ॥

व्याख्या : इस जगत का स्रष्टा केवल एक ही है। वही

समर्थ है, नियंता है। उसके द्वारा सर्जन का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। जब प्रकृतिलय हो जाता है, मनुष्य उसके परे होनेवाली आत्मा की पहचान कर लेता है तभी इस नियंता का साक्षात्कार हो सकता है। प्राकृतिक सृजन की प्रतिष्ठा इस प्रकार आत्मा की है। वही अपनी प्रतिष्ठा द्वारा इस जगत् का सर्जन, विकसन तथा विलय सुचारू रूपसे चलाती है। वह एक ऐसी सता है जो समूचे विश्व का ठीक पालपोस करती है और उसे एक विशिष्ट उद्देश्य से ऐहिक तथा पारलौकिक अनुभव की पात्रता प्रदान करती है। उसके द्वारा आदमी के अंतर में आत्मीयता ओतप्रोत रहती है। आत्मीयता के झरने उसीके कारण फूट निकलते हैं। सभी भूतों का सामर्थ्य उसपर निर्भर है। उसीके द्वारा वे जन्मते हैं, जीते रहते हैं और मरते भी। उसकी इच्छा अन्तिम शब्द है। जो इसे जानता है, पहचानता है, उसका साक्षात् कर लेता है, वह इस ब्रह्माण्ड की शोभा है। उसका जीवन सामर्थ्य का आधार है, सत्य की सचाई है, अनुभूति की गहराई है। जीवन का आत्मिक आनंद वही अपना सकता है। वह उसमें रम जाता है, उल्हास पाता है और आत्मज्योति से सर्वत्र आलोक फैलाता रहता है। आत्मवान् ही समर्थ है। परमात्म तत्त्व सच्चे अर्थ में समर्थ, वीर्यमान्, बलवान् है। उसके ही जय के नारे लगाये जाय। वही तत्त्व न जानने के कारण तुम इस प्रकार शोकग्रस्त हो रहे हो। तुम यह योग्यता नहीं पाते हो अतः तुम इस प्रकार बोल रहे हो।" श्री अर्जुन जी ने यह स्वीकार किया और वे कहते हैं कि 'आप जो कुछ कह रहे हैं, उससे प्रकृतिलय अनुभव किया जाता है और

फिर देवताभाव जागृत होता है। वह समर्थ तत्त्व सभी प्रकार के तिमिरों को हटा देगा।' ।। ९६ ।।

हो कां (जें) सांप्रत अैसें जालें। जे हे जन्ममृत्यू तुवां सृजिले।
आणि नाश पावे नाशिलें। तुझेनि कायी ।। ९७ ।।

अर्थ : क्या आजकल अैसा हुआ है कि ये जन्म तथा मृत्यु तुम्हीं निर्माण करते हो, और जो नष्ट होता है वह केवल तुम्हारे नष्ट करने से ही ? ।। ९७ ।।

व्याख्या : अैसा लगता है कि आज कल तुम्हीं सृष्टि के नियंता हो चुके हो। जन्म तथा मृत्यु का निर्माण तुम्हारे कारण हो गया है। तुम्हारे ही अधिष्ठान कोई जन्म पाता है और तुम्हारे कारण ही कोई मृत्यु पाता है। तुम नियंता तथा सर्व-शक्तिमान हो। जो कुछ नष्ट हो रहा है, होता है वह केवल तुम्हारी इच्छासे, कृतिसे ! क्या अैसाही तुम सोच रहे हो ? तुम जो समझते हो वह कहाँ तक सही है ? ।। ९७ ।।

तू भ्रमले (पणे) अहंकृती। यांसी घात न धरिसी चित्तीं।
तरी सांगें कायी हे होती। चिरंजीव ।।९८।।

अर्थ : तुम तो स्वयं अहंकार के कारण भरमाये गये हो। तुम अपने मनमें इनके बारे में किसी भी प्रकार अशुभ नहीं चाहोगे तो भी क्या ये चिरन्जीव हो जायेंगे ? ।।९८।।

व्याख्या : इस महान् संघर्ष के समय तुम सचमुच भ्रांत बुद्धि के हो गये हो। तुम अपने में अैसी महत्ता अनुभव करते हो कि यह जो कुछ हो रहा है वह केवल तुम्हारे ही कारण।

तुम्हारा पौरुष इस समय अपने अहंकार से परिपुष्ट है । तुम समझते हों कि केवल तुम्हीं इन्हें मार सकते हो । जब तुम मारना नहीं चाहते तो ये चिरंजीव हो जायेंगे । तुम्हारी बुद्धि की इतनी अधोवस्था कभी नहीं हुई थी । तुम उन कौरवों को -कि जो तुम्हें मार डालने को उत्सुक हैं–अपना समझ रहे हो, और उनके बारे में करुणासे ओतप्रोत हों रहे हो । तुम अैसे मानते हो कि इनपर दया हो । इससे उनकी उपयोगिता के लिए तुम सहायक बन जाओगे जो बडी बहादूरी होगी । तुम्हारी वुद्धि सचमुच भ्रांत है जिससे उनके जीवन तथा मरण का पूरा अधिकार तुम अपने कबजे में समझ रहे हो । तुम्हारे मारने से वे मरते हैं या तुम्हारे छोड देने से वे जीयेंगे । यह धारणा बिलकुल भ्रांत है । क्या वे सचमुच चिरंजीव हो जानेवाले हैं तुम्हारी कृपा के कारण ? जरा सोचो तो सही । केवल बौद्धिक बहस किसी भी प्रकार काम की नहीं हो सकती ॥९८॥

कीं तूं एक वधिता । आणि सकळ लोक हा मरता ।
ऐसी भ्रांति झणें चित्ता । येवों देसी ॥९९॥

अर्थ : 'तुम ही सभी को मृत्यु रूप हो और वे सभी लोग मर्त्य हैं' इस प्रकार तुम्हारे चित्तमें भ्रांति पैदा हुई है ॥ ९९ ॥

व्याख्या : वस्तुतः इस संघर्ष के कारण तुम स्वयं गलित-गात्र हुए हो । तुम्हें इतनी ग्लानी आयी है कि तुम सर्व कर्म संन्यास को तत्पर हो रहे हो । तुम्हें कुछ करने की बात सूझती ही नहीं । अैसी अवस्था में तुम्हारी बुद्धि भी बढचढकर बातें कर रही है । तुम क्यों कर अैसा सोच रहे हो कि तुम्हीं एक

मारनेवाले हो और ये सभी मर्त्य हैं तुम्हारे हाथों। यह तुम्हारी अपनी भ्रांति है। भ्रांति सचमुच विचित्र तथा विलक्षण ही रहती है। इसी कारण तुम समझते हो कि यदि मैं संग्राम में जूझता रहूँ तो संभव है कि ये सभी मर जायेंगे। मैं ही केवल उन्हें मारनेवाला हूँ और ये सभी मर्त्य हैं। तुम इसी भ्रमके कारण यों भी समझोगे कि मैं ही सर्वसामर्थ्य सम्पन्न हूँ। जीवन तथा मृत्यु का नियंत्रक मैं हूँ। वस्तुत: तुम्हारी यह धारणा सरासर गलत है, भ्रांत है। उसे तुम मत अपनाओ ।। ९९ ।।

हे अनादि सिद्ध आघवें। होत जात स्वभावें।
तरी तुवां कां शोचावें। सांगें मज ।। १०० ।।

अर्थ : यह तो सचमुच अनादिसिद्ध है कि स्वभाव से ही यह जन्मता तथा नष्ट होता है। फिर तुम क्यों खेद कर रहे हो, कहो तो सही ।। १०० ।।

व्याख्या : विश्व की गतिशीलता अनादिसिद्ध है। उसका सर्जन एक निश्चित रूप में होता है। उसका अपना स्वभाव से ही नियमन होता रहता है। वह निर्माण होता है, स्थितिशील रहता है और फिर नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति-स्थिति तथा विनाश यहाँ अनिवार्य है। यह अनादिसिद्ध है। फिर क्यों खेद कर रहे हो? क्यों कर इस प्रकार अनुचित बात को अपना रहे हो? कुछ समझता नहीं।

जो सिद्ध होते हैं वे इस अनादि सिद्धता का अनुभव करते हैं। वे उसके स्वाभाविक नियमन को जानते हैं। उनके अभ्यास

द्वारा यह विश्व की यह सिद्धता उनकी अपनी हो जाती है। वे अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव को पाते हैं जहाँ अनादिसिद्ध आत्मा का अक्षय अनुभव है जो जीवन से तथा मृत्यु से सदा के लिये मुक्ति का अनुभव कराता है। जो इसका अभ्यास करता है वही अपने स्वभाव में सुस्थिर हो जाता है। यह स्वभावसिद्धता अपने को महत्त्व प्रदान करती है। अनुभूति की गहराई ला देती है। विश्व की नियमन शक्ति स्पष्ट रूपमें समझी जाती है। अतः आवश्यक है कि बहिर्मुख विचारोंके बातों में न आकर अपने स्वभाव का, स्वधर्म का अनुष्ठान स्वीकृत करना सर्वथा उपयुक्त रहता है। तुम उसे छोड रहे हो। अपने स्वभाव को त्याग रहे हो। स्वधर्म को ठुकरा रहे हो। और फिजुल बातों का दुःख कर रहे हो। तुम्हारी भ्रांत बुद्धि तुम्हें इस प्रकार करने को प्रेरक है। तुम्हारी यह विचित्रता तुम्हें हीन दीन बना रही है। तुम्हारा पौरुष खोया जा रहा है। अतः अपने स्वभाव को अपनाओ। स्वभावसिद्धता का अनुभव करो। इतना होने पर साधक सिद्ध हो जाता है। वहाँ मनुष्य की मनुष्यता अपनी पात्रता को प्राप्त हो जाती है। अतः सिद्ध होने के लिये तैयार हो जाओ। तैयार होना, सावधान रहना, सिद्ध रहना सर्वथा आवश्यक है। फिर खेद कहाँ होगा ? दुःख रहेगाही नहीं। मोह नहीं, भ्रांति नहो। शोक तो होगा ही नहीं। अतः सिद्धता की ओर झुको। स्वभाव को अपनाओ। फिर भ्रांति नहीं रहेगी।

॥ १०० ॥

परी मूर्खपणें नेणसी। न चितावें तें चिंतिसी।
आणि तूंचि नीति सांगसी। आम्हांप्रती ॥१०१॥

अर्थ : तिसपर भी तुम मूर्खता के कारण समझ नहीं सकते । जिसका विचार करना भी अनुचित है, उसका विचार करते रहते हो और फिर तुम्हीं नीति कह रहे हो हम से ।

व्याख्या : बात स्पष्ट है कि तुम मूर्खता के कारण कुछ समझते नहीं मूर्खता ही तुमने स्वीकार की है । जिसका मन से विचार होता है वह प्रत्यक्ष वैरी भी नहीं कर सकता । तुम अपने मनसे ये बुरे विचार दूर हटावो । यहाँ शब्दों का महत्त्व ही नहीं रहा । जो हम चाहेंगे वही पा जाते हैं । अत: अच्छे की बात सोचो । अन्यथा विकार ही पैदा हो जायेगा । यह विकृति, यह विपर्यस्त विचार सर्वथा अनिष्ट करनेवाले हैं । पहले तुम अपने को भूल गये सो, कुछ समझते नही हो । और मुझसे नीति की बातें कर रहे हो । "मैं यहाँ युद्ध नहीं करूँगा, यह मुझसे नहीं होने का " यों तो तुम्हीं कह रहे हो । इस प्रकार गलितगात्र हो जाना, पौरुष गँवाना किसी भी प्रकार ठीक नहीं । ये सभी भ्रांत बुद्धि के बुरे परिणाम हैं जिनके चँगुल में तुम फँसे हो । अत: यह छोड दो । अपने बल का आश्रय ले लो । स्वाभिमान, स्वधर्म तथा स्वात्मबल के आधार पर प्राप्त कर्तव्य को निभाते रहो, इसीमें तुम्हारी जय है १०१॥

देखें विवेकी जे होती । दोहितें ही न शोचिती ।
जे होये जाये हे भ्रांती । म्हणौनियां ॥ १०२ ॥

अर्थ : जो विवेक से युक्त हैं वे किसी भी प्रकार इस बात का खेद नहीं करते क्यों कि यहाँ जन्म तथा मृत्यु दोनो सचमुच भ्रांति है । १०२॥

व्याख्या : विचार करने की सच्ची क्षमता जब पैदा होती है तब बुध्दि की सूक्षता सभी बातों को ठीक ठीक जान सकती है। वह हरेक बात के अनेक अंगों की स्पष्टता प्रकट करती है। वहाँ विवेक पैदा हो जाता है। विवेक के माने हैं यथार्थता: अनुभव करता। सत्य को समझ लेना। तत्त्वदर्शी बुध्दि जीवन की गहराई में पहुँचती है और ज्ञान के अनमोल रत्न ला देती है। फिर शोक, मोह, मत्सर आदि विकार सम्भव नहीं होते। क्या जन्म क्या मृत्यु दोनों का महत्त्व समान ही रहता है। यह तो निसर्गसिध्द घटना है। स्वभाव से ही वह होती रहती है। जो होता ही है उसके बारे में शोक करना अनुचित है। यहाँ तुझसे न हत्या हो रही है, न तू उनको मारनेवाला है। यह होनहार है कोई टालनेवाला नही। यह तो अपरिहार्य है। जन्म जिस प्रकार सुनिश्चित है उसी प्रकार मृत्यु भी। वस्तुत: दोनों भी भ्रांत धारणाएँ हैं। अत: अपने स्वभाव को पहचानो। आत्मबल को अपनाओ। अपनी भ्रांत धारणाएँ, जो केवल मन का खेल ही है, छोडकर उनपर विजय पा लो। स्वावलंबन ही महत्त्व का है। आत्मनिष्ठा होने पर किसी भी प्रकार दु:ख या शोक निर्माण नहीं होगा ।। १०२ ।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा: ।
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ।। १२ ।।

अर्थ : मैं, तुम तथा ये सभी राजा लोग इसके पहले कभी नहीं थे, सो बात नहीं। साथ ही इसके बाद भी पुन: कभी नहीं होंगे, ऐसाही नहीं ।।१२।।

अर्जुना सांगेन आयिक । येथ आम्ही तुम्ही देख ।
आणि हे भूपति जे शेष । आदि करून ।। १०३ ।।

अर्थ : हे अर्जुन, गौर से सुन । यह ध्यान में ले कि तुम, मैं और ये राजा आदि सब–।। १०३ ।।

व्याख्या : पहले पहल यह ध्यान में ले लो कि तुम, मैं और ये राजा आदि सभी सदा के लिये नित्य हैं । नित्यता सत्य है । हम सबों के अन्तर में स्थित वही एक परमात्म तत्त्व है जो कभी विनाश नहीं पाता । वही नित्यता का सच्चा लक्ष्य है ।। १०३ ।।

नित्यता ऐसेचि असोनी । नातरि निश्चित क्षया जाऊनी ।
हें भ्रांतो वेगळी करूनी । दोन्हीं नाहीं ।।१०४।।

अर्थ : यहाँ नित्यता ही सही है । क्षय तथा नित्यता दोनों वस्तुत: भ्रांति के कारण हैं। अत: जब भ्रांति हटती है तब दोनों भी नहीं । १०४।।

व्याख्या : यह पहले ही स्पष्ट समझ लें कि यहाँ ये जो दिखाई देते हैं, उनकी विद्यमानता है । किंतु यह स्पष्ट है कि जिस रूप में तथा जिस प्रकार ये अब हैं उसी रूप में वे सदाके लिये कैसे रह सकते हैं ? उनकी प्राकृतिक स्थिति सदैव बदलती ही रहेगी । उनको नित्यता है किंतु इस प्रकार नहीं कि जिस प्रकार तुम चाहते हो । 'नित्यता' इसी लिये नहीं है । जों सही है वह आत्म तत्त्व । और जो कुछ ' है ' ऐसा हम मानते हैं वह है भी नहीं । अन्त में ये नष्ट ही होनेवाले हैं । उनका ही नहीं

तो सभी के लिये 'क्षय' निश्चित है। अत: नित्यता तथा क्षय दोनों मूलत: सापेक्ष शब्द हैं। भ्रांति के कारण ही हम यों सोचते हैं कि कुछ क्षय होनेवाली बातें हैं और कुछ अविनाशी। वस्तुत: जो विनाशी है वह मायिक है। मूलत: उसमें किसी भी प्रकार विद्यमानता नहीं। अत: क्या नित्य क्या अनित्य, दोनों भी भ्रांतिरूप, सापेक्ष तथा अनुभवरहित हैं।

यह हमारी बुद्धि की जडता है कि जिससे वह देहात्मभाव को ही बढावा देती है। 'देह' को ही महत्त्व देती है। देहबुद्धि देह की रक्षा चाहती है। उसके आभोग, उसके सुख, उसके महत्त्व का विचार करती है। उसको बनाये रखने की चाह होती है। देह की भ्रांति समझी नहीं जातीं। उसकी नित्यता के लिये सभी प्रकार प्रयत्न होते रहते हैं। आत्मवृत्ति का परिपोष नहीं होता, फिर विरक्ति कहाँ रहेगी ? भ्रांति, आलस्य तथा विकृति के कारण जो अनुभव किया जाता है वह देहिक रहता है। आत्मसत्ता का प्रत्यय वहाँ नहीं के बराबर है। यह तो भेदबुध्दि का नाटच है। उसका प्रपंच मूलत: मायिक होने से मन भी विनियंत्रित रहता है। उसकी कल्पनाअें स्वैर, विकार-युक्त रहती हैं जो खाली आभोगप्रधान हैं। भेद, द्वन्द्व तथा खोखलापन इनके सिवा ऐसा कुछ अनुभव नहीं जो मनुष्य को जीवन की गहराई का अनुभव करायेगा। आत्मनिष्ठा को जागृत करेगा। बुद्धि के भ्रांत लक्षण हटायेगा ॥ १०४ ॥

हे उपजे आणि नाशे। तें मायावशें दिसें।
येऱ्हवीं तत्त्वतां वस्तु जें असें। तें अविनाशचि ॥ १०५ ॥

अर्थ : यह जो निर्माण होता है तथा नष्ट होता है वह 'माया' के कारण ही दिखाई देता है। अन्यथा तत्त्वत: जो 'वस्तु' है, वह अविनाशी है। १०५ ॥

व्याख्या : आत्मवस्तु तत्त्वत: अविनाशी है। उसका कभी किसी भी प्रकार विनाश हो नहीं सकता हम देखते हैं कुछ उत्पन्न होता है और कुछ नष्ट भी। यह होना-जाना, यह निर्माण तथा विनाश होता ही है। होता ही रहेगा। यही हम जानते हैं। यह सचमुच 'माया' का ही परिणाम है जो मूलत: मायिक है। 'माया' से परे होकर आत्मवस्तु को ज्ञात कर लेने से ही सच्चा समाधान, आत्मनिष्ठा तथा शोकरहितता प्राप्त होती है। तभी बुद्धि की देहममता नष्ट होती है वह सच्चे अर्थ में जागृत तथा आत्मवान् हो जाती है ।। १०६ ।

जैसें पवनें तोय हालविलें। आणि तरंगाकार जाहालें।
तरी कवणें कें जन्मलें। म्हणों येथें ॥१०६॥

अर्थ : हवा के झोंके के कारण पानी हिलाया जाता है और लहरें निर्माण होती हैं, फिर क्या वहाँ कोई जन्मा है ? क्या उस प्रकार हम कहेंगे ?

व्याख्या : जलाशय का पानी शान्त, स्थिर है। हवा का झोंका आया। पानी हिलाया गया। उसके पृष्ठभाग पर लहरें उछलीं। क्या लहरों की नयी निर्मिति हुई है ? क्या कोई जन्मा है ? किसने जन्म दिया ? किसको ? कैसे ? ये प्रश्न सर्वथा व्यर्थ हैं। न कोई जन्मता है न मरता। जो निर्माण हुआ सा दिखाई

देता है वह सचमुच मायिक है ।।१०६।।

तेंचि वायुचे स्फुरण ठेलें । आणि उदक सहज सपाटलें ।
तरी आतां काय निमालें । विचारीं यां ।।१०७।।

अर्थ : जब वहाँ हवा का बहना बन्द हो जाता है तब वही पानी स्थिर तथा शांत है । (लहरें नहीं रहीं ।) अब विचार करो कि अब क्या नष्ट हुआ ? ।।१०७।।

व्याख्या : पानी तथा पानी की लहरें दोनों में क्या भेद है ? वस्तुतः दोनों एक ही हैं । लहरों में पानी है, पानी के अन्तर्गत लहरें हैं । यहाँ जो भेद किया जाता है वह केवल हमारी भ्रान्त बुध्दि का ही परिचायक है । जब हवा का झोंका नहीं तब लहरें भी नहीं । शांत, स्थिर ऐसा पानी ही एक है । लहरों का निर्माण होना या नष्ट होना वस्तुतः कुछ मौलिक भेद निर्माण नहीं कर सकता । यहाँ क्या नयी निर्मिति है या वस्तू खो गयी है ? कुछ भी नहीं । दोनों, दोनों रूपों में भी एक है अतः दो होना भी भ्रामक है । यह रूपांतर नष्ट होना भी भ्रामक । अतः न जन्म है न मृत्यु । वस्तु सचमुच सदा के लिये विद्यमान है उसका कभी अभाव नहीं ।

मनुष्य जब सो जाता है तब वह अपने को अनेकानेक रूपों में अनुभव करता है । क्या उसके वे सभी रूप सही होते हैं ? सपने में कुछ का कुछ हो जाता है । विविध तथा विपर्यस्त अनुभव किये जाते हैं फिर भी क्या उन्हें कोई सही मानता है ? उसकी अपनी स्थिति, अपना लिंग तथा अपनी देह चाहे भलाही

विस्मरण क्यों न हो किंतु सपने में वह जो कुछ और देखेगा वह कभी सही नहीं हो सकता। जब वह जागृत हो जाता है तब उसकी अपनी देह ही वह सही मानता है। अपने 'जन्म-मृत्यु' का अनुभव सचमुच इसी प्रकार है। सपने की बात सपने में ही रह जाती है। मनुष्य जीवन, उसकी देह, उसकी आकांक्षा, वासना, विकार इन सभी में वस्तुत: एक अन्तिम उद्देश्य है कि वह अपनी आत्मवस्तु को पहचान ले। जब तक यह सम्भव नहीं होता तब तक उपर्युक्त विचार-विकार, सुख-दु:ख, शोक-मोह, मत्सर-द्वेष सब कुछ रहता है और उसके कारण तीव्र रूपमें त्रिविध तापों में वह तडपता ही रहता है। किंतु ये सभी बातें देहबुद्धि की उपलब्धियाँ हैं। जब देहात्मबुद्धि 'आत्मबुद्धि' हो जाती है, तब देहविषयक सभी सपने तुरन्त नष्ट हो जाते हैं और सच्ची जागृति पैदा हो जाती है। मनुष्य जन्म मृत्यु से परे होकर अपना कर्तव्य कर्म निष्काम भूमि पर आरूढ होकर करता रहता है। स्वधर्म को त्यागता नहीं। जन्म मृत्यु के बारे में शोक तक करता नहीं। अपने आत्मरूपमें लीन रहकर भी विश्वात्मक अनुभूति को अपनाता रहता है जिससे किसी भी प्रकार द्वन्द्व, मोह, मत्सर, व्यथा तथा विकार उसे तकलीफ नहीं देते। चित्त की मलिनता नष्ट हो जाती है। सच्ची पहचान आ जाती है ।।१०७।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

अर्थ : इस देहधारी को (देहान्तर्गत आत्मा को) जिस प्रकार

कौमार्य, यौवन तथा वृद्धत्व प्राप्त होता है, (फिर भी कोई उसपर दु:ख नहीं करता) उसी प्रकार देहनाश होने पर भी (दूसरी देह धारण होने पर, दूसरी देह धारण करने के लिये देहनाश) धैर्यवान् मोह से ग्रस्त नहीं होते ।।१३।।

आयिके शरीर तरि येक । परि वयसा भेदें अनेक ।
हें प्रत्यक्षचि देख । प्रमाण तुं ।।१०८।।

अर्थ : यह सुनो कि देह तो एक ही होती है किंतु उमर हो जाने से वही अनेक सी दिखाई देती है, यह तो तुम प्रत्यक्ष प्रमाण से देखो ।।१०८।।

येथें कौमारत्व दिसे । मग तारुण्य तें भ्रन्शे ।
परि देहचि न नासे । येकेका सवें ।।१०९।।

अर्थ : यह देह तो एक ही है किंतु उसपर भी कौमार्य, तारुण्य आदि अवस्थाएं उमर बढने के साथ आ जाती हैं किंतु हरेक अवस्था के विनाश के साथ देह नष्ट नहीं होती। (अवस्थान्तर होता है किंतु देह तो बनी रहती है) ।। १०९ ।।

व्याख्या : यहाँ यह स्पष्ट है कि आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण इस देह के रूपमें है। यद्यपि आत्मा देह नहीं फिर भी जब तक देह है तब तक वह अन्दर है ही। देह नष्ट हो जाने पर भी वह है। देह की अवस्थाएँ जिस प्रकार देह को नष्ट नहीं करती उसी प्रकार देहान्तर भी आत्मा को किसी भी प्रकार हानि नहीं पहुँचाता। यह शरीर मानो खिला हुआ फूल है। उसमें सुगन्ध है आत्मभाव का। जो सचमुच अन्दर छिपाही रहता है। जैसे

आकाशतत्त्व में शब्द है किंतु वह प्रकट होता है तो सुनाई देता है किंतु दीखता नहीं। जीवन में शब्द की महिमा अगाध है। सृष्टि का मूलभूत तत्त्व 'आकाश' उसका वह गुण। श्रवण पहले बाद मे 'सुगन्ध'! जीवदशा आन्तरिक ॐकार की पुकार नहीं सुन सकती अत: वह छिपीसी है। आत्मभाव जागृत नहीं होता। फूल में सुगन्ध है, आकाश में शब्द है, देहमें आत्मा भी। किंतु उसकी पहचान नही। वाणी की भिन्नता तो जरूर रहती है किंतु वह सचमुच एक ही तत्त्व का विकास है। शब्द जिसका गुण उस आकाश की चेतना वाणी मे ओतप्रोत है। शब्द प्रकट होते हैं और बाद में रहते भी नहीं। उनका अवस्थांतर हो जाता है। इतनाही नहीं तो वे नष्ट नहीं होते उनकी विद्यमानता का हम अनुभव कर सकते हैं। उसी प्रकार अवस्थान्तर के कारण देह बदलती नहीं, अवस्थाएँ निर्माण होती हैं किन्तु देह तो रहती ही है। जब देहान्तर हो जाता है तब उसके अन्तर्गत 'आत्मा' है, वह कभी नष्ट नहीं हुई। देहधारणा के ही कारण इस जगत् से सम्पर्क प्रस्थापित हो जाता है। वही 'लग्न' है जो इस प्रकार विश्वसम्भव मे 'आत्मा' का देहरूप मे प्रवेश है। वह लगाव हो जाता है फिर टूटता भी है क्यों कि यह तो स्वाभाविक, प्राकृतिक बात है किंतु इससे 'आत्मा' को किसी भी प्रकार हानि नहीं। यह बात पूरी तरह अनुभव नहीं की जाती है। शरीर नष्ट होने पर भी 'लिंग देह' रहती है जो अन्य देह में प्रवेश करती है। जब तक यह 'आत्मतत्त्व' अनुभव नहीं होता तब तक यह पुनरागमन है ही। देहधारणा का अर्थ है पुरुषार्थ प्राप्ति का प्रयास! आत्मोपलब्धि के कारण शुभ-

अवसर ! जीवन द्वारा परमार्थ प्राप्ति का अभिनव अनुष्ठान ! जब तक यह उपलब्धि नहीं तब तक कुछ हाथ नहीं आया। देह का यह लक्ष्य, इस जन्म का यह महान् उद्देश्य मद्देनजर रखा जाय। लिंग देह हमारी वासनाओं की, विकारों की ही बनी हुई है। जब तक ये वासनाएँ शून्य नहीं है तब तक देह चली जाती है फिर भी दूसरी पायी जाती है। अन्तस्थ प्रेरणा नयी देह ला देती है। इस दुर्लभ मनुष्य देह में हमें उक्त प्रेरणा का प्रधान उद्देश्य ध्यान में रखना होगा। एक ओर विश्व का सम्भावन है, दूसरी ओर देह की धारणा है। दोनों में आत्म-तत्त्व निहित है। किसी भी प्रकार इस सृष्टि से संलग्न होने की धारणा यह है कि इस अनुभव के द्वारा आत्मत्व की पहचान हो। अतः बाह्य जगत् में और अन्तर्जगत में एक ही एक तत्त्व है जिसका विकास नहीं पर विलास है विश्वरूप में साथ ही विविध प्राणवान् देहों में भी। अतः जो जिस प्रकार, जिस अवस्था में तथा जिस हेतु से प्रकट हुआ है उसे अपने स्वधर्म की उपेक्षा करना अनुचित होगा।

देह की विविध अवस्थाएँ दिखाई देती हैं किंतु क्या अवस्थान्तर के कारण देह नष्ट होती है ? देहात्मबुद्धि और है तथा आत्मलक्षी बुद्धि और। देह नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हुआ ऐसा मानने से देहात्मबुद्धि का ही प्रभाव स्पष्ट होता है ॥१०८-१०९॥

तैसीं चैतन्याचें ठाईं। यें शरीरांतरें होतीं जातीं पाहीं।
ऐसें जाणें तयां नाहीं। व्यामोह दुःख ॥ ११० ॥

अर्थ : चैतन्य पर ही ये विविध देहान्तर होते रहते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह कभी मोहग्रस्त या दु:खी नहीं होता ॥११०॥

व्याख्या : उसी प्रकार 'चैतन्य' के अधिष्ठान में विविध प्रकार से रूपान्तर हुआ करते हैं। देहकी अवस्थाअें बदलती रहती हैं और साथ ही देह भी बदलती है। वही चित्तत्त्व इस देह को अपना बनाकर उसके द्वारा नियोजित कर्तव्य को पूरी तरह निब्राह लेता है। यह देह धारणा इस प्रकार प्रमाणभूत आत्मत्वसे अनुभूत या स्वधर्मानुष्ठान युक्त हो तो फिर दु:ख रहेगा ही कहाँ ? जब चैतन्य की पहचान है, सत्ता का साक्षात्कार है, आत्मा की उपलब्धि है फिर 'आनंद' दूर नहीं। वहाँ दु:ख काहे का ? न कोई जन्मता है, न मरता है। जो है उसका विनाश ही नहीं। सत्ता सर्वदा अक्षय है, उसकी विद्यमानता सदाके लिये अनुभूत होती है। फिर व्यामोह नहीं। दु:ख नहीं। एक शरीर नष्ट हुआ तो भी कुछ बना बिगडा नहीं। भ्रान्त बुद्धि आत्मलक्षी नहीं होती। वह देहात्म रहती है। जो चैतन्य को अपनाता है वह भ्रांति से हट गया। फिर न खेद है, व्यामोह है या भ्रान्ति ॥११०॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्ण सुखदु:खदा : ।
आगमापायिनोऽनित्यांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अर्थ : हे कौंतेय ! इन्द्रिय तथा उनके विषयों का संयोग शीत तथा उष्ण या सुखद तथा दु:खद अनुभव कराता है। यह संयोग उत्पत्ति तथा विनाश से युक्त होने के कारण अनित्य

है, अतः हे भारत ! उन्हें सह लो ।। १४ ।।

येथें नेणावयां हेंचि कारण । जें इंद्रियां आधीनपण ।
तिहीं आकळिजें अंतकरण । म्हणोनि भ्रम ।।१११।।

अर्थ : यहाँ अज्ञान का एक ही कारण है कि इन्द्रियों की अधीनता स्वीकृत की जाती है। वे अंत:करण को पूरी तरह व्याप्त कर लेते हैं अत: भ्रम रहता है ।। १११ ।।

व्याख्या : यहाँ हम देखते हैं कि विषयों के द्वारा इन्द्रियों का जगत् फलता फूलता रहा है। इन्द्रिय तथा विषय दोनों इस जगत् में विलक्षण आसक्ति पैदा करते हैं। इन्द्रियों के अधीन हो जाने से अंत:करण के सभी व्यापार केवल उनके अनुकूल ही होते रहते हैं। फिर क्या अंत:करण भ्रांत बुद्धिसे भराही रहेगा। भ्रांति, भ्रम तथा विवर्त होता ही रहता है। इन्द्रियों का तथा विषयों का यह संयोग केवल भौतिक सुख से या दु:खसे घिरा होने से यहाँ आत्मीय पुकार नहीं रहती। भला फिर भ्रम के सिवा और क्या होगा ? ।।१११।।

इन्द्रियें विषय सेविती । तेथें हर्ष शोक (हे) उपजती ।
तें अन्तर आप्लविती । संगें येणें ।। ११२ ।।

अर्थ : इन्द्रिय विषयों का सेवन करते हैं। उनके कारण हर्ष या खेद निर्माण होता है। मनुष्य के अंत:करण को सुख दुख से व्याप्त करते हैं ।।११२।।

व्याख्या : इन्द्रियों के द्वारा विषय सेवन होता है। उनके परस्पर संग के कारण सुख या दु:ख निर्माण होता है। वस्तुत:

जो संवेदन है वह आत्मभाव से ही प्रस्फुरित होता है। मूल में एकमेव 'आनंद' संवेदन है। उस का मौलिक स्वरूप विषयों की स्थिति में, उनके आभोग में सभव नहीं होता। उस 'आनन्द' के द्वन्द्वात्मक आविष्कार हैं सुख और दु:ख। विषयों की अपनी स्थिति है कहाँ? इन्द्रियों के द्वारा उस आनन्दघन तत्त्व का आस्वाद कैसे संभव है? इन्द्रियों में या विषयों में वह मौलिक तत्त्व अनुभव किया जाता है न उसके 'आनंद' की पहचान हो सकती है। देह में स्थित होकर भी वह छिपा सा रहता है। इन्द्रियों का ही यह आभरण होता है कि जिससे वे अपनाही महत्त्व बढाती है। फिर द्वन्द्वात्मक प्रतिति के सिवा और कुछ भी हाथ नहीं आता। उस सुख को या दु:ख को अपनाने में ही वह देही पुरुषार्थ मान बैठता है। उसका पौरूषही उसे छोड गया हो फिर अंत:करण सुखसे, दु:खसे, ईर्ष्यासे, द्वेषसे आप्लावित रहता है। यहाँ जो अनुभूति है उसे आन्तरिक आनंद-घनता का, स्थिरता का, दिव्यता का किसी भी प्रकार महत्त्व नहीं ॥११२॥

जयां विषयांच्या ठाईं। एकनिष्ठता कहीं नाहीं।
तें दु:ख आणि कांहीं। सुखही दिसें ॥११३॥

अर्थ : इन विषयों की कहीं भी निष्ठा नहीं है। कभी वे सुखद हैं तो कभी दु:खद ॥ ११३ ॥

व्याख्या : क्या ये विषय अपनी प्रतीति के सन्दर्भ में कभी निष्ठायुक्त हैं? क्या सदाके लिये उनकी एकही सी प्रतीति संभव है? एकरस अनुभूति देने में वे सर्वथा इसमर्थ हैं। कभी वे

दुःखद हैं तो कभी सुखद। उन्हें न स्थिरता है, न स्थिति है। निर्द्वंद्व प्रतीति का स्रोत उनके पास है भी नहीं। विषय तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध ही निश्चित है। जहाँ इन्द्रिय भी अनित्य हैं फिर विषय कैसे नित्य हो सकते हैं?

देखें (हे) शब्दाची व्याप्ति। निंदा आणि स्तुति।
तेथें द्वेषाद्वेष उपजति। श्रवणद्वारें ॥ ११४ ॥

अर्थ : यह देखो कि शब्द की व्याप्ति जहाँ है वहाँ निन्दा तथा स्तुति है और श्रवण के कारण ही द्वेष तथा अद्वेष भी निर्माण होते हैं ॥११४।

व्याख्या : जिस प्रकार इन्द्रियों की अनिश्चितता है, अनित्यता है वही बात शब्द की भी है। इन्द्रियों के आभोग सुख या दुःख को निर्माण कर देते हैं। उनकी अनुभूति द्वन्द्वात्मक है। शब्दों के द्वारा भी यही होता है। जहाँ उनकी व्याप्ति है वहाँ सुननेवाला कथन को अनुकूल समझेगा तो स्तुति के समान है, प्रतिकूल बात हो तो फिर निन्दा ही है। निंदा या स्तुति की बात द्वन्द्वरूप है। वहाँ संघर्ष है फिर नित्यता कैसी। निंदा सुन पडी तो द्वेष निर्माण होगा, स्तुति हो तो अद्वेष, स्नेह पैदा होगा। शब्द विचारों के अनुभूतियों को संक्रान्त करता है। शब्द की निर्मिति आकाश तत्त्व से हुई है। उसकी व्याप्ति अगाध है। शब्दों को श्रवण अनुकूल या प्रतिकूल भावना निर्माण कर देता है। वह तो प्रकृति की क्रीडा का एक आविष्कार है। फलस्वरूप वह उस क्रीड़ा का उद्देश्य जानता है और अपनी शक्ति के द्वारा अन्तर्मुख कराता है। जहाँ भगवत्

प्रेम की उपलब्धि है। जो स्मरण है उसका माध्यम शब्द ही। भगवत्प्रेम पाकर ही शब्द कृतार्थ होता है। किन्तु जब वह बहिर्मुख बातों में आ जाता है तब प्रकृति की क्रीडा में व्यस्त रहकर उस के चक्कर मे पडा रहता है। फिर द्वेष-अद्वेष, निन्दा-स्तुति की द्वन्द्वात्मक कहानी शुरू रहती है। अन्तर्मुख शब्द, वह अनाहत ध्वनि, आत्मीयता का स्रोत है। वहाँ निर्गुण, निराकार का सच्चा आत्मरूप तथा आनन्दघन प्रत्यय सिद्ध है। यही बात है कि जिससे विविद्विषा को बढावा मिलता है किन्तु उसके लिये शब्दशक्ति की अन्तर्मुखता प्रकट होनी चाहिये ।। ११४ ।।

मृदु आणि कठिण । हे स्पर्शाचे दोन्हीं गुण ।
जें वपूचेनि संगें कारण । संतोष खेदां ।। ११५ ।।

अर्थ : मृदुता तथा कठिनता ये स्पर्श के दो गुण हैं जो देह के कारण संतोष या खेद का कारण बन जाते हैं।

व्याख्या : जिस प्रकार शब्द तत्त्व श्रवण के कारण निंदा-स्तुति, द्वेष-अद्वेष आदि द्वन्द्वात्मक अनुभव कराता है उसी प्रकार 'स्पर्श' की भी स्थिति है। कहीं काठिन्य होगा—तो कहीं मार्दव। शरीर के ही कारण ये गुण प्रकट होते हैं तथा संतोष प्राप्त कराते हैं। सन्तोष न होने पर खेद रहता है। सन्तोष या खेद ऐसा द्वन्द्व रहताही है।११५।।

भ्यासुर आणि सुरेख । हें रूपाचें स्वरूप देख ।
जें उपजवीं सुखदुःख । नेत्रद्वारें ।। ११६ ।।

अर्थ : रूप एक तो भयानक होगा या सुन्दर। यही उसका स्वरूप है। नेत्रों के कारण सुख या दुःख का अनुभव किया जाता है ॥ ११६ ॥

व्याख्या : शब्द तथा स्पर्श के समान 'रूप' की बात भी वही है। नेत्रों के द्वारा उसका अनुभव किया जाता है। यह रूप भी द्वन्द्वात्मक प्रतीति देता है। एक वह भयानक हो सकता है तो कभी सुन्दर। जब भयानक होगा तो त्यागने की प्रवृत्ति रहती है। उस रूप को देखकर दुःख पैदा हो जाता है। जब सौंदर्य है तब सुख अनुभव किया जाता है। यह नेत्रों की प्रतीति है। आँखें देखना चाहती हैं। जब सौन्दर्य नहीं दिखाई देता तब सन्तोष नहीं होता। यह सुख प्रतीत नहीं हुआ तो दुःख ही है। आखों की क्षुधा सन्तुष्ट नहीं होती कि जब तक वह अच्छी बातें नहीं देखती। परिणामस्वरूप दुःख रहता है ॥ ११६ ॥

सुगन्ध आणि दुर्गंध। हा परिमळाचा भेद।
जो घ्राणसंगे विषाद–। तोष देता ॥ ११७ ॥

अर्थ : सुगन्ध और दुर्गंध परिमल के प्रकार हैं। नाक के द्वारा उनका अनुभव विषादपूर्ण या सन्तोषप्रद होता है ॥११७॥

व्याख्या : 'गन्ध' की बात आ जाती है उसके पश्चात्। वह तो केवल अस्तित्वमात्र से सुख या दुःख निर्माण करती है। बास आ जाती है और नाकके कारण उसके भी भेद बन जाते हैं। जब गन्ध 'सुगन्ध' है, खुशबू है तब आल्हाद है, सन्तोष है। वह प्रिय लगती है। जब बदबू है, दुर्गन्ध है तब विषाद है,

घृणा है। त्यागने का विचार निर्माण हो जाता है मन में। वह कभी 'सुगन्ध' है, कभी दुर्गन्ध। परिणामस्वरूप वह कभी प्रिय है तो कभी अप्रिय भी ।। ११७ ।।

तैसाचि द्विविध रसु। उपजवी प्रीति त्रासु।
म्हणौनि हा अपभ्रन्शु। विषयसंगु ।। ११८ ।।

अर्थ : उसी प्रकार रस भी द्विविध है कि जो कभी प्रीति निर्माण करता है तो कभी दुःख। अतः विषयसंग सचमुच अपभ्रन्श है ।। ११८ ।।

व्याख्या : परिमल के समानही रस की अवस्था है। वह भी द्वन्द्वात्मक प्रतीति देता है। 'रस' का सेवन जब रसना द्वारा होता है तब एक तो प्रीति निर्माण होगी, रुचि निर्माण होगी या अरुचि पैदा होगी। मधुर रस का आस्वाद हमेशा प्रीतिकर, आल्हादक है। प्रत्युत् कटुरस अप्रीतिकर, अरुचि निर्माण करनेवाला है। क्या शब्द, क्या स्पर्श, क्या रूप, क्या रस या गन्ध ये सभी विषय अपने इन्द्रियों के अधीन है। विषयों की मर्यादा मूलतः पार्थिव है। विषयों के द्वारा फिर विषय ही निर्माण होते हैं। अतः उनके संपर्क के कारण इन्द्रियों की प्रतीति द्वन्द्वात्मक तथा अपभ्रन्शात्मक रहती है। इन्द्रिय तथा विषय दोनों का एक दूसरे से रागद्वेषात्मक सम्बन्ध सुस्थित है। अतः वहाँ आत्मीयता की निर्द्वंद्व प्रतीति कदापि सम्भव नहीं ।। ११८ ।।

देखें इन्द्रियां आधीन होइजे। तरि शीतोष्णातें पाविजे।
आणि सुखःदुखी आकळिजे। आपण पें ।। ११९ ।

अर्थ : इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार करने पर शीत या उष्ण, सुख या दु:ख इस प्रकार अपने को अनुभव होता है।
॥ ११९ ॥

व्याख्या : इन्द्रियों के अधीन होने पर द्वन्द्वात्मक प्रतीति जरूर रहती है। शीत तथा उष्ण या सुख तथा दु:ख, राग तथा द्वेष आदि द्वन्द्वात्मकता प्रतीत हुआ करती है। द्वन्द्व में ही मन फँसा रहता है। सुख या दु:ख से घिरे रहते हैं हम उस अधीनता के कारण ॥ ११९ ॥

या विषयां वांचूनि कांहीं। आणिक (सर्वथा) रम्य नाहीं।
ऐसा स्वभावचि पाहीं। इन्द्रियांचा ॥ १२० ॥

अर्थ : इन्द्रियों का तो यह स्वभावही है कि वे विषयों से बढ़कर और कुछ भी सर्वथा रमणीय, रंजनीय नहीं समझते।
॥ १२० ॥

व्याख्या : इन्द्रिय तथा उनके विषय दोनों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ लगाव है। अत: उनके परस्पर सम्पर्क से राग या द्वेष की भावना पैदा होती है। विषयों का सेवन ही इन्द्रियों का काम है। अत: वे विषयों को ही स्वीकार करने योग्य है। फिर विषयों के सिवा और क्या है कि जो उन्हें भायेगा ? यह तो उनके लिये स्वाभाविक है ॥ १२० ॥

हे विषय तरी कैसे। रोहिणीचे जळ जैसें।
कां स्वप्नींचा आभासे। भद्रजाति ॥ १२१ ॥

अर्थ : ये विषय सचमुच मृगजल के समान हैं या स्वप्न

कीं गजान्तलक्ष्मी के समान है। (सर्वथा अविश्वसनीय हैं)
॥ १२१ ॥

व्याख्या : ये विषय कैसे हैं ? ये तो सचमुच मृग जल के समान मिथ्या है। स्वप्न में प्राप्त हुओ सम्पत्ति क्या कभी सही होती है ! क्या उसपर कोई बडा मालदार, धनी समझा जाता है ? उस गजान्तलक्ष्मी का उपयोग नहीं। क्यों कि वह स्वप्न का वैभव सर्वथा मिथ्या है। आभास है । १२१ ॥

देखें अनित्य तें यापरि। म्हणौनि तूं अव्हेरीं।
हा सर्वथा संग न करीं। धनुर्धरा ॥ १२२ ॥

अर्थ : अतः यह जान ले कि वे इस प्रकार अनित्य हैं। तू उनका स्वीकार मत कर। उनका संग, हे धनुर्धर अर्जुन ! कभी न स्वीकार ॥ १२२ ॥

व्याख्या : विषयों को त्यागनाही आवश्यक है। उनकी संगति स्वीकार करने योग्य नहीं। देहबुद्धिका स्वीकार मत कर ! विषय सर्वथा अनित्य हैं। इन्द्रियों का अनुभव द्वन्द्वात्मक, अतः त्याज्य है। वह कदापि आत्मप्रतीति नहीं। देहबुद्धि के घेरे में पडकर अज्ञान मत अपनाओ। 'मैं केवल देह हूँ' इस भावना का त्याग करो। देह कदापि नित्य नहीं, विषय भी नित्य नहीं। उनकी संगति त्याज्य है ॥१२२॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थ : हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो धैर्यवान् व्यक्ति सुख तथा दुःख समत्व से अनुभव करता है, उसे ये (विषय) व्यथित नहीं करते।

वह (सर्वथा) अमृतत्त्व के लिए योग्य है ॥ १५ ॥

हे विषय जयातें नाकळिती। तथा सुखदु:खे दोन्हि न पवती। आणि गर्भवास संगति। नाहि तया ॥ १२३ ॥

अर्थ : ये विषय जिसपर असर नहीं कर सकते, उसे न सुख है न दु:ख। साथ ही किसी भी प्रकार पुनर्जन्म भी वह नहीं पाता ॥१२३॥

व्याख्या : इस देह के लिए देहबुद्धि द्वारा विषयों की संगति अपनायी जाती है। विषय द्वन्द्वात्मक अनुभव कराते हैं तथा देहबुद्धि को ही पुष्ट करते हैं। देहपोषण जिनका उद्देश्य है, वे अज्ञान के सिवा और क्या अपनायेंगे ? जब देहधारणा के सन्दर्भ में तथा देहबुद्धि के बारे में सच्ची विरक्ति पैदा हों जायेगी तब विषयों का आभोग न सुख निर्माण करेगा न किसी प्रकार दु:ख पैदा करेगा। सुख-दु:ख की द्वन्द्वात्मक प्रतीति जहाँ देहबुद्धि के अभाव के कारण नष्ट हो चुकी है, वहाँ न वासना है, न विकार। अपनी पहचान हो जाती है, आत्मनिष्ठा उदित हो जाती हैं फिर जन्म क्यों ? मृत्यु काहे का ? पुनर्जन्म सम्भव नहीं। किसी का ऋण अदा करने के लिए आदमी बार बार उसकी उपकृतता का विचार करता रहता है। यही बात है पुनर्जन्म की। जब विषयों से घिरे रहते हैं तब उनके मोह में फँसे रहने के कारण वासना, विकारों के झन्झट में फिर फिर जन्मना पडता है। अत: इन विषयों की, देहबुद्धि की ममता वृद्धिगत करनेवाले इन्द्रियों की अधीनता कभी न स्वीकार करो। स्वाधीन रहो ॥ १२३ ॥

तो नित्यरूप पार्था । वोळखावा सर्वथा ।
जो या इन्द्रियार्थी । नागवे चि ।। १२४ ।।

अर्थ : हे पार्थ ! तुम उसे नित्यरूप समझो कि जो इन्द्रिय तथा उनके अर्थों के प्रति सर्वथा उदासीन है ! ।। १२४।

व्याख्या : जो व्यक्ति किसी भी प्रकार इन्द्रियों की अधीनता नहीं स्वीकार करना, किसी भी प्रकार उनके विषयों के फन्दे में नहीं आजाता वह सचमुच विरक्त हैं। विरक्ति के कारण उसकी देहबुद्धि नहीं रहती, वह आत्मस्वरूप में लीन रहता है। अतः वह नित्यतृप्त, आत्मरूप होकर निर्द्वंद्व प्रतीति में निमग्न है ।। १२४ ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। १६ ।।

अर्थ : जो नहीं (असत्), उसकी विद्यमानता (भाव) नहीं रहती तथा जो है (सत्), वह कभी अविद्यमान (अभाव) नहीं होता। जो तत्त्वदर्शी हैं वे इन दोनों का (सत् तथा असत् का) अन्त देख चुके हैं।

= (तत्त्वदर्शी सत् तथा असत् का अनुभव करके यह पूरी तरह जान चुके हैं कि सत् का कभी अभाव नहीं, तथा असत् कभी है ही नहीं।)

आतां अर्जुना (आणिक) कांहीं येक । सांगेन मी आयिक ।
जें विचारपर लोक । वोळखिती ।।१२५।।

अर्थ : हे अर्जुन ! अब मैं और कुछ कह रहा हूँ, गौर से

सुनो। इस बात को विवेकी अनुभव करते हैं॥ १२५॥

व्याख्या : हे अर्जुन ! मैं जो कुछ और कह रहा हूँ वह सचमुच श्रवणीय है। स्वीकार्य भी है। यह तथ्य विशेष रूपसे स्पष्ट कर रहा हूँ। तू सचेत होकर सुन। जो विवेकी हैं, सत्य तथा असत्य की जिन्हें ठीक पहचान हैं, वे इस सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं। वे अनुभव करते हैं॥ १२५॥

या उपाधिमाजीं गुप्त। चैतन्य असें सर्वगत।
तें तत्त्वज्ञ सतत। स्वीकारिती॥ १२६॥

अर्थ : इस उपाधि में सर्वगत चैतन्य नित्य अन्तर्धान है। तत्त्वज्ञ उसको स्वीकार करते हैं॥१२६॥

व्याख्या : यह बात सचमुच अनुभव करने योग्य है। वह आत्मवस्तु हमारी अपनी है। हम उसकी पहचान भूल गये हैं। जो यह अन्तर्गत तत्त्व का संकेत समझते हैं वे ही उसे स्वीकार करने योग्य होते हैं। वे ही उसका अनुभव करते हैं। वे उसकी पहचान कर लेते हैं। सभी प्रकार की उपाधियों में वह सर्वगत चैतन्य सचमुच अन्तर्निहित है। वह अदृश्य है किंतु है सही। 'वही तत्त्व "मैं" हूँ', इस प्रकार तत्त्वतः सन्त या तत्त्वज्ञ अनुभव करते हैं। वे उसकाही स्वीकार करते हैं, दिनरात उसीमें लीन रहते हैं। वे स्वयं चैतन्यमय हो जाते हैं। वे अपने को उसी चैतन्य का अवतार ही समझते हैं। उपाधियों में लिप्त होकर भी वह चैतन्य भूमिगत धन के समान है। अमूल्य धनराशी है वह। अतः उसका स्वीकार सन्त तथा तत्त्वज्ञ जरूर करते हैं॥ १२६॥

सलिलीं पय जैसें । एक होउनि मिनलें असें ।
परी निवडूनि राजहंसें । वेगळें कीजे ॥ १२७ ॥

अर्थ : पानी में एक रूप हुआ दूध जिस प्रकार राजहंस अलग कर देता है ॥ १२७ ॥

व्याख्या : पानी में दूध मिलाया जाता है फिर वह एक ही होता है । इस एकरूपता के कारण पानी और दूध अलग नहीं हो सकता । पानी का रंग दूध के समान हो जाता है । किंतु जब वह पानीयुक्त दूध राजहंस के सामने रखा जायेगा । तब वह केवल दूध ही स्वीकार करेगा । दूध को अलग करके पानी को भी अलग रखेगा । फूलों के परागों में होनेवाला शहद भ्रमर चूंसकर लेते हैं । अन्य चीजों को छोड देते हैं, खाली शहद ही लेते हैं । उसी प्रकार पानी छोडकर केवल दूध का ही स्वीकार राजहंस के द्वारा होता है । उसी प्रकार तत्त्वज्ञ उपाधियों में छिपे हुए उस तत्त्व का 'अक्षर' ही स्वीकारते हैं । उसमें अपने को लीन करते हैं । देहकी उपाधि में स्थित परमात्म तत्त्व आस्वाद स्वीकृत करने का महान् भाग्य केवल तत्त्वज्ञों को ही सुलभ होता है । वह अत्यन्त मधुर तथा परमानन्ददायक आस्वाद उनके नसीब होता है । अन्तरंग में छिपा हुआ यह अक्षरज्ञान, यह अमर अनुभूति, उसकी आल्हादकता, उसका स्वरूपसौरभ, रंगवैभव इन्हीं राजहंसो के द्वारा चुना जाता है । यहीं सच्ची महत्ता स्पष्ट होती है । जीवन में स्थिरता इस भाव को अपनाने में है । धर्मधारणा नितरां महत्त्व की है । लडकी तथा लडका दोनों का निवास एक जगह शादी के बिना सम्मत

नहीं। ऐसा रहना न समाज को पसन्द आता है न उनको भी चैन देता है। वहाँ व्यभिचार ही है। उसी प्रकार जब तक अंतस्थ आत्मीय के साक्षात्कार के सिवा जीवन सूना है। जीव बेचैन है।

फूल खिलता है किंतु वह अपनी जाति या प्रकार छोड़ नहीं सकता। अपने 'स्वभाव' की महत्ता वह त्याग नहीं सकता। प्रत्युत् जब धर्म के विरुद्ध आचार हो तो दूसरे रूप में वह हानिकारक रहेगा। जिससे 'स्वभाव' या स्वधर्म की महिमा न रहेगी। जीवन में एक प्रकार तनाव पैदा होगा। शरीर तथा मन अस्वस्थ होकर सदैव बेचैन हो जायेंगे। फिर वैगुण्य, विरोध, अज्ञान और दुराचार यह सिलसिला जारी रहेगा।

जब हम धर्म को स्वीकार करते हैं, उसके अनुसार वेदोक्त क्रियाओं का अवलम्ब ले बैठते हैं तब हमारे अन्तर में स्थित आत्मा की पहचान होने में सुकरता प्राप्त होती है। उस सनातन तथा नित्यनूतन तत्त्व से ऐक्य हो जाता है। स्वभावगत तथा स्वधर्ममान्य आचारों के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर आत्मलक्षी बन जाती हैं। आत्मा से लगाव पैदा होता है। वह एक प्रकार 'लग्न' है कि जो जीवनभर परस्पर एक दूसरे के सहयोगी, सहयात्री हो जाते हैं। देहधारणा तथा मन की स्थिती विद्रोह की नहीं रहती। वह अन्तर्लीन होकर आत्मीयता को उपासना में लगा रहता है। अव्यभिचारी निष्ठा पैदा हो जाती है। उस सनातन तत्त्व से सद्यकाल के साथ 'योग' आविर्भूत होता है। अतः आवश्यक है कि इस नीरक्षीर विवेक को स्वीकार किया जाय। अपने स्वभाव को पहचाना जाय। अन्त-

मुखधारणा स्वीकृत हो। फिर परमात्मैक्य का विचार स्थिर होकर रहेगा। कमसे कम उस सन्दर्भ में अपनापा जरूर रहेगा। ।। १२७ ।।

कीं अग्निमुखें किडाळ। तोडूनियां चोखाळ।
निवडिती केवळ। बुद्धिवन्त ।। १२८ ।।

अर्थ : जिस प्रकार अग्नि में सुवर्ण का अशुद्ध अंश नष्ट करके, बुद्धिवन्त केवल शुद्ध सुवर्ण ही ले लेते हैं ।।१२८।।

व्याख्या : उपर्युक्त कथन को दूसरे रूपमें भी स्पष्ट किया जाता है। सुवर्ण में कुछ अशुद्ध अंश जरूर रहता है। उस सुवर्ण को अग्नि में तपाया जाता है। अशुद्ध हिस्से को नष्ट किया जाता है। शुद्ध सोने को ही स्वीकार किया जाता है। बुद्धिमानी इसीमें है और बुद्धिमान इसी प्रकार सार को ग्रहण करते हैं १२८ ।।

नातरि जाणिवेचिया आयिणीं। करिता दधिकडसणीं।
मग नवनीत निर्वाणीं। दिसे जैसें ।। १२९ ।।

अर्थ : जानने की रुचि होने के कारण, जिस प्रकार दधी को मथा जाता है और अन्त में माखन पाया जाता है, उसी प्रकार (तत्वज्ञ उस सर्वगत चैतन्य को अपनाते हैं) ।। १२९ ।।

व्याख्या : दूसरे रूपमें फिरसे स्पष्ट किया जा रहा है कि बुद्धिवन्त को उस परतत्त्व के ज्ञान की स्पृहा होती है। इसी कारण वह उपाधियुक्त संसार में निरुपाधिक परतत्त्व की पहचान करना चाहता है। उसे वह तत्त्व ही प्रिय है। दधी में माखन है किंतु वह तब तक सुलभ नहीं कि जब तक उसे मथा नहीं जाता। मथने पर अन्त में नवनीत पाया जाता है। वह

नवनीत आत्मभाव के रूप में है, जिसकी उपलब्धि सर्व प्रकार से महत्त्वपूर्ण है ।। १२९ ।।

की भूसबीज येक वाट । उपणितां राहे घनवट ।
तेथें उडे तें फलकट । जाणों आलें ।। १३० ।।

अर्थ : अनाज के साथ थोथा भी मिला हुआ रहता है । जब वह उडाया जाता है तब अनाज के बीज अलग होते हैं और जो थोथा है वह उड जाता है । उसी प्रकार उपाधि में जो आत्मतत्त्व रहता है, उसे जानना चाहिये ।। १३० ।।

व्याख्या : सूप के द्वारा, हम देखते हैं कि अनाज में मिलाया हुआ कूडा करकट दूर हो जाता है । बीज अलग और थोथा भी अलग । महत्त्व थोथे को नहीं, बीज को है । सार ही महत्त्व का । उपाधि को महत्त्व कदापि नहीं । उपाधि में जों 'आत्मतत्त्व' निहित है, उसीको जान लेना चाहिये । वही जानने योग्य है ।। १३० ।।

तैसें विचारितां निरसलें । तें प्रपंच सहजें सांडवलें ।
मग तत्त्वतां तत्त्व उरलें । ज्ञानियांसी ।। १३१ ।।

अर्थ : इस प्रकार विवेक हो जाने पर उपाधियों का निरसन हो जाता है । फिर प्रपन्चात्मक उपाधि सहजही नष्ट हो जाती है । फिर जो तत्त्व शेष रहता है वही सचमुच आत्मतत्त्व है, परब्रह्म है । यही ज्ञानयोगी पा जाता है ।। १३१ ।।

व्याख्या : इस प्रकार सार-असार, उपाधियुक्त तथा निरुपाधिक आदि के बारे में यथार्थ विवेक जागृत हो जाने पर सन्देह रहता ही नहीं । असार को त्यागा जाता है, उपाधि अपने

आप दूर हो जाती है। विवेक जागृत होता है। प्रपन्च में भी समाया हुआ वह निरुपाधिक तत्त्व सहजही हाथ आता है। अन्य शेष त्याग दिया जाता है। वही तत्त्व आत्मतत्त्व है और उसकी उपलब्धि ज्ञानियों को ही हो जाती है। क्यों कि वेही उसकी सत्ता स्वीकृत करते हैं। उसके आधार पर रहते हैं ॥१३१॥

म्हणोनि अनित्याच्या ठाईं। तयां आस्तिक्यबुद्धि नाहीं।
निष्कर्षु दोहीं ही। देखिला असें ॥ १३२ ॥

अर्थ : जो ज्ञानवान् हैं वह नित्य तथा अनित्य का विवेक कर सकते हैं। उन्होंने उस सन्दर्भ में निष्कर्ष भी अनुभव किया होता है। अत: वे अनित्य के बारे में आस्तिक्यबुद्धि कभी प्रकट नहीं करते। १३२ ॥

व्याख्या : जो अनित्य है उसके बारे में ज्ञानी आस्तिक्य-बुद्धि नहीं रखते। अनित्य कदापि नित्य नहीं हो सकता। और जो नित्य है वह कभी नष्ट भी नहीं हो सकता। नित्य तथा अनित्य के बारे में ज्ञानी विवेक करते हैं। वे निष्कर्ष पाते हैं कि नित्यवस्तु ही स्वीकार्य है। उसका ही आधार स्वीकार करने योग्य है। अत: उनकी दृष्टि में अनित्य वस्तुओं को महत्त्व नहीं। वे स्वयं इस बात का अनुभव कर लेते हैं। अपनी कसौटी पर कस लेते हैं। अत: उनका विश्वास अडिग रहता है।
॥ १३२ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अर्थ : जिसके द्वारा यह विश्व विस्तार पा चुका है, उस पर तत्त्व को तुम अविनाशी समझो। इस अव्यय (अविनाशी)

तत्त्व का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

देखें सारासार विचारितां । भ्रांति ते पाहीं असारता ।
तरी सार तें स्वभावतां । नित्य जाणें ॥ १३३ ॥

अर्थ : यह देखो कि अगर सारासार का विचार किया जाय तो यहाँ जो भ्रान्ति है वह निःसंशय असार है। और जो सार तत्त्व है वह स्वभावतः ही नित्य है ॥ १३३ ॥

व्याख्या : इस जगत् में विचार करते समय यह स्पष्ट होता है कि जो अनित्य है, मर्त्य है वह सचमुच भ्रान्ति के समान है। वही अनित्य है। किंतु जो 'सार' है वह सदा के लिये स्वभावतः नित्य है। जीवन में जो सार है, जीवित्व की जो चेतना है वह स्वभावतः नित्य है और जो भासमान् होनेवाली अनित्य बातें हैं वे सर्वथा असार हैं ॥१३३॥

हा लोकत्रयाकार । तो जयाचा विस्तार ।
तेथें नाम वर्ण आकार । चिन्ह नाहीं ॥ १३४ ॥

अर्थ : यह त्रैलोक्य जिस का ही विस्तार है, वह स्वयं सचमुच नाम, वर्ण, आकार या चिन्ह से रहित है ॥ १३४ ॥

व्याख्या : इस त्रैलोक्य का जो आकार है वह उसके मूल रूपमें है कहाँ ? उस आत्मतत्त्व को अपने स्वरूप में आकार नहीं है। यह आकार उसका विस्तार है। वह एक रूप में भ्रांति है। उस परतत्त्व के स्वरूप में न आकार है, न नाम है, न वर्ण या चिन्ह ॥१३४॥

जो सर्वदा सर्वगतु । जन्मक्षयातीतु ।
तया केलियाहि घातु । कदा नव्हे ॥ १३५ ॥

अर्थ : जो सर्वदा सर्वगत है, जन्म तथा मृत्यु के अतीत है, उसके विनाश के प्रयत्न करने पर भी कभी वह विनष्ट नहीं हो सकता ॥ १३५ ॥

व्याख्या : इस प्रकार यह जो परतत्त्व आकार रहित है उसका विस्तार एक प्रकार से आकार रहित ही है। दूसरे शब्दों में वह भ्रांति के समान है। जो मूलतत्त्व है वह सदैव सर्वगत है। जन्म तथा मृत्यु के अतीत है उसके विनाश के प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकते। वह सर्वत्र व्याप्त है। सर्वगत है फिर भी जन्म तथा मृत्यु से वह अतीत है। उसपर किसी भी प्रकार विनाश के प्रहार परिणामकारी नहीं हो सकते ॥ १३५ ॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अर्थ : नित्य, अविनाशी तथा प्रमेयों के द्वारा जो कथन-योग्य नहीं ऐसी आत्मा के ये देह नष्ट होती ही हैं (मर्त्य हैं)। अतः हे भारत ! तुम युद्ध करो ॥१८॥

[व्याख्या : हे भारत ! तुम शोक मत करो। अपनी वीर वृत्ति को बनाये रखो। वह परमतत्त्व, नित्य ब्रह्म श्री भगवान् गोपाल कृष्णही है। यह देहधारणा उसी परब्रह्म का आविष्कार है। जब देह है तब वही शरीरी है। यह नित्य शरीरी अनाशिन् तथा अप्रमेय है और उपाधि के कारण मर्यादित है, अन्तवंत है। देह में भी वही ब्रह्म है अतः उसके बारे में सन्देह नहीं होना चाहिये। चाहे शरीर बदलता है फिर भी वह आत्मतत्त्व नित्य

है। बुद्धि का भ्रम ज्ञानरहितता के कारण है। एक ओर वह शरण लेती है तो दूसरी ओर अहंता के कारण आत्मसत्ता को भूलती है। मन के संकल्प विकल्प भी बहिर्मुखता को बढावा देते हैं। उस आत्मत्व की व्याख्या नहीं हो सकती। वह सर्वदा अप्रमेय है और साथ ही अनाशिन है। उसकी देह नित्यतत्त्व की है। अत: आत्मीयत्व की पहचान आवश्यक है कि जिससे शरीर के बारे में मोह नहीं होगा। आत्मत्व की वृत्ति बनी रहेगी।]

आता शरीरजात आघवें। हे नासिवंत स्वभावें।
म्हणोनि तुवां झुंजावें। पांडुकुमरा ।। १३६ ।।

अर्थ : ये सभी शरीर स्वभावत: नष्ट होनेवाले हैं अत: हे पांडुकुमर ! तुम युद्ध करो ।।१३६।।

व्याख्या : यहाँ जो देहधारणा होती है, जो जन्म पाते हैं उन सभी के लिये 'क्षय' निश्चित है। उनका नाश अटल है। स्वभावत:ही जो जन्मते हैं वे नष्ट होते ही हैं। इसी लिये यहाँ युद्ध करने से तुम्हें किसी भी प्रकार हानि नहीं। तुम अपने स्वभावधर्म को मत छोडो। जूझते रहो। अपनी वीरवृत्ति बनाये रखो। विवेक करनेवाले ज्ञानी लोग ऐसा ही मानते आये हैं कि वह अमर, नित्य तथा अतर्क्य ऐसा आत्मतत्त्व 'देही' होकर जन्मता है। इस देह की सत्ता कदापि नहीं है। उस ओर ध्यान देनेसे देहबुद्धि को ही महत्त्व प्राप्त होगा। आत्मसत्ता का प्रत्यय फिर कैसे सम्भव है ? देहकी बात छोड दो। 'देही' की बात समझ लो (अत: युद्ध के कारण देह नष्ट होंगी भी फिर भी 'देही' रहेंगे। क्यों कि 'देही' अमर है, नित्य है।)
|| १३६ ||

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। १९ ।।

अर्थ : जो इसे (आत्मतत्त्व को) मारनेवाला समझते हैं या जो इसे 'मर गया' मानते हैं, वे दोनों भी इसे पहचानते नहीं (सच्चे रूपमें जानते नहीं) । यह आत्मतत्त्व कभी न मरता है, न (किसी को) मारता है ।। १९ ।।

तूं धरूनि देहाभिमानातें । दिठी सूनि या शरिरातें ।
मी मारिता हे मरते । म्हणतु आहासि ।। १३७ ।।

अर्थ : तुम देहाभिमान को धारण करते हो और इस शरीर की ओर देखते हो । अत: तुम ऐसे समझते हो कि मैं मारनेवाला हूँ ये मरते हैं ।। १३७ ।।

व्याख्या : तुमने सचमुच देहाभिमान को धारण किया है । तुम्हारी बुध्दि देह से परे नहीं होती 'शरीर' को ही सब कुछ समझ बैठी है वह । बात दिये की हो रही है, ज्योति की नहीं । यह तुम्हारी देहाहन्ता, देहाभिमानता तुम्हें देह के सिवा और कुछ स्पष्ट नहीं होने देती । तुम्हारी दृष्टि इस प्रकार अन्धी हो गयी है । आँखें खुलीं नहीं । यहाँ तुम समझते हो कि मैं इन्हें मारता हूँ ये सभी मरते हैं मेरे ही कारण । यह व्यर्थ अभिमान है ।। १३७ ।।

तरी अर्जुना तूं हें नेणसी । जरी तत्त्वतां विचारिसी ।
तरी वधिता तूं नव्हसी । ते वध्य नव्हती ।। १३८ ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! तुम यह नहीं जानते हो कि इस का तत्त्वत: विचार करने पर यह स्पष्ट है कि न तुम मारनेवाले हो सकते न ये वे वध्य हैं ।। १३८ ।।

व्याख्या : हे अर्जुन ! तुम यह नहीं जानते हो अत: तुम भूलसे अपने को 'वधिता' समझ रहे हो और उन्हें 'वध्य' मानते हो। तत्त्व दृष्टि से तो यह बिलकुल असम्भव है क्यों कि वह तत्त्व न मरता है, न किसी को मारता है। उसकी अपनी स्वाभाविक अकर्मण्यता कभी नष्ट नहीं होती। और जो होता जाता है वह 'तत्त्व' नही। तुम्हारे अज्ञान के कारण तुम इस कर्तृत्व को स्वीकार कर रहे हो ॥ १३८ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ : कभी भी यह आत्मतत्त्व न जन्मता है न मरता है। जन्म पाकर फिरसे जन्मनेवाला भी यह नहीं। (जन्म-मृत्यु के चक्रमें यह नहीं रहता।) यह अज, नित्य, शाश्वत तथा सनातन है। जिसका नाश होता है वह शरीर नष्ट होने पर भी आत्मतत्त्व कभी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

जो इस आत्मतत्त्व को अविनाशी, नित्य, अज तथा अव्यय समझता है (जानता है) वह (आत्मज्ञानी) पुरुष, हे पार्थ ! किसे किस प्रकार मारता है ? कैसे किसको मारेगा ? ॥ २१ ॥

जैसें स्वप्नामाजीं देखिजे। तें स्वप्नींचि साच आपजे।
मग चेउनियां पाहिजे। तंव कांही नाहीं ॥ १३९ ॥

अर्थ : जिन्हें हम सपने में देखते हैं, वे सपने में सचमुच

सत्य लगते हैं किंतु जागृति आने पर फिर कुछ भी नहीं रहता। ॥ १३९ ॥

व्याख्या : स्वप्नसृष्टि वस्तुत: केवल भासात्मक परिणाम है। उसका अपना अस्तित्व है कहाँ ? मूलत: जब आत्मप्रत्यय हो आता है तब देहाभिमान नहीं रहता। फिर सभी अनात्म वस्तुओं की माया, वह स्वप्न सृष्टि कैसे रह सकती है ? सपनों की चीजें सपनो में ही सही, किन्तु जागृतावस्थामें क्या उन्हें सत्य माना जाता है ? देहबुद्धि के होने के कारण यहाँ ये अनात्म वस्तुएं हमें सत्य सी लगती हैं। आत्मप्रत्यय की जागृति इन सपनों को कैसे स्वीकार करेगी ? ॥ १३९ ॥

तैसी हे जाण माया। तूं भ्रमत आहासि वायां।
शस्त्रें हाणितलिया छाया। जैसी आंगी न रूपे ॥१४०॥

अर्थ : उसी प्रकार तुम यह माया जान लो। तुम व्यर्थ ही भ्रमित हो रहे हो। छाया पर शस्त्र प्रहार होने से उसकी देह को कभी क्षति नहीं पहुँचती ॥ १४० ॥

व्याख्या : स्वप्न सृष्टि का भ्रम जिस प्रकार परिणाम करता है उसी प्रकार इस जगत् की माया में तुम भी फँस गये हो। इसी लिये तुम इस प्रकार कह रहे हो कि मैं मारताहूँ और ये मरते हैं। यह तुम्हारा कथन सर्वथा अनुचित है। छाया पर किये गये शस्त्र प्रहार क्या कभी उसकी देह को हानि कर पायेंगे ? ॥ १४० ॥

कां पूर्ण कुम्भ उलंडला। तेथ बिंबाकार दिसे भ्रंशला।
परी भानु नाहीं नासला। तयासवें ॥ १४१ ॥

अर्थ : पानी से भरा हुआ कुम्भ जब गिरता है तब कुम्भ का पानी भी हिलता है (और जमीन पर फैलता है) । उसमें सूरज का प्रतिबिंब है और वह नष्ट होता है । क्या इससे प्रत्यक्ष सूर्य भी नष्ट हो सकता है ? (प्रतिबिंब का नाश याने बिंब का नाश नहीं । देह का नाश होने पर भी आत्मा नित्य रहती है ।) ॥ १४१ ॥

व्याख्या : घडे में पानी है । पानी में सूरज का प्रतिबिंब दिखाई देता है । घडा गिर गया और पानी भी फैलने लगा । सूरज का प्रतिबिंब फिर विकीर्ण सा हुआ । क्या इससे प्रत्यक्ष सूर्य को क्षति पहुँचती है ? पानी के फैलने के कारण या उसके विकीर्ण होने के कारण सूरज नष्ट हो सकता है ? ॥ १४१ ॥

नातरीं मठीं आकाश जैसें । मठाकृती अवतरलें असे ।
तो भंगलिया आपैंसें । स्वरूपचि ॥ १४२ ॥

अर्थ : ' मठ ' के आकार के समान हीं मठ में आकाश समाया है । जब वह आकार नष्ट होता है तब आकाश अपने स्वरूप में है ही ॥ १४२ ॥

व्याख्या : आकाश मूलत: सर्वत्र व्याप्त है । न उसे आकार है न रूप । जब मठ के रूपमें वह है तब उसका कारण मठ का आकार है । आकाश को कुछ आकार नहीं । 'मठ' के भग्न होने के बाद आकाश कभी भग्न नहीं हो सकता । उसका स्वरूप नित्य है । वह अपने ही स्वरूप में रह जाता है । उसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा भी शरीर के नष्ट होने के बाद अपनी मूलस्थिति को प्राप्त होती है, किंतु वह कभी नष्ट नही होती ॥ १४२ ॥

तैसें शरीराच्या लोपीं । सर्वथा नाश नाहीं स्वरूपीं ।
म्हणौनि तूं नारोपीं । भ्रांति बापा ।। १४३ ।।

अर्थ : शरीर के नष्ट होने से आत्मस्वरूप का कभी विनाश नहीं हो सकता । अत: यह भ्रांति उस आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में न रखो ।। १४३ ।।

व्याख्या : यह देह प्राकृतिक है । वह जन्मती है अत: मृत्यु निश्चित है । देह की स्थिति नाशवन्त है किंतु उसके रूप में अभिव्यक्त हुई आत्मा कभी नष्ट नहीं हो सकती । देह चली जाती है, फिर भी आत्मा अपने स्वरूप में नित्य, व्यापक, स्थायी, अमर तथा अजन्मा है । देह का नाश याने आत्मा का नाश नहीं । इस प्रकार देहबुद्धि के कारण देहनाश के कारण आत्मा का भी नाश हम मानते हैं । किंतु यह गलत है । यह सचमुच भ्रांति है देहबुद्धि की । वह देहको ही सर्वस्व समझती है । 'स्वरूप' सर्वथा अविनाशी है । जब भ्रांति हट जाती है तब किसी भी प्रकार शोक जन्मता नहीं । आत्मस्वरूप सनातन, सर्वगत तथा नित्य है ।। १४३ ।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही
।। २२ ।।

अर्थ : जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का त्याग करता है और नये वस्त्र परिधान करता है (पहनता है) उसी प्रकार यह जीवात्मा भी जीर्ण देह छोडकर दूसरी नयी देह से संयुक्त हो जाता है ।। २२ ।।

जैसें जीर्ण वस्त्र सांडिजे । मग नूतन वेढिजें ।
तैसें देहांतरातें स्वीकारिजे । चैतन्यनाथें ।। १४४ ।।

अर्थ : जीर्ण कपडों को त्यागकर फिर नये कपडे पहनते हैं उसी प्रकार चैतन्यनाथ जीर्ण शरीर को त्याग देते हैं और नये शरीर को स्वीकारते हैं ।। १४४ ।।

व्याख्या : चैतन्यनाथ हमारी आत्मा है। वह देह में स्थित है और जब देह जीर्ण होती है तब वह उससे छोड दी जाती है। फिर दूसरी देह में प्रवेश किया जाता है। जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर जिस प्रक़ार आदमी नये दूसरे वस्त्रों को पहनता है उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व देहान्तर करता है। उसमें देह की नाश है किंतु चैतन्य की किसी भी प्रकार हानि नहीं। वह केवल देह का आश्रय पाकर प्रकट होता है उसके रूपमें। देह से उसका सरोकार नहीं है। यह देहबुद्धि है जो देहसे संपर्क स्थापित कराती है ।। १४४ ।।

नैनं छिदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३ ।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवच ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २४ ।।

अर्थ : यह आत्मतत्त्व शस्त्रों के द्वारा छेदा नहीं जाता। उसे अग्नि जलाता नहीं। साथ ही पानी उसे गीला नहीं कर सकता या वायु उसका शोषण भी नहीं कर सकता ।। २३ ।।

यह आत्मतत्त्व अच्छेद्य (न तोडा जानेवाला), अदाह्य (जल नहीं सकता), अक्लेद्य (गीला न होनेवाला) तथा अशोष्य (जिसका

कभी शोषण नहीं हो सकता) है। वह सर्वगत, नित्य, स्थाणु (अविक्रिय-स्थिर), अचल तथा सनातन है ।। २४ ।।

हा अनादि नित्यसिध्दु । निरुपाधि विषदु ।
म्हणौनि शस्त्रादिकीं छेदु । न घडे यया ।। १४५ ।।

अर्थ : यह आत्मतत्त्व अनादि, नित्य सिद्ध, निरुपाधिक (विशुद्ध) है। अतः शस्त्रों के द्वारा इसे छिन्नभिन्न नहीं किया जा सकता ।। १४५ ।।

व्याख्या : यह चैतन्यनाथ सचमुच ही अनादि है। वह जन्मता नहीं फिर उसकी मौत कैसे सम्भव है ? वह सदा के लिये, सर्वत्र विद्यमान है, नित्य सिद्ध है। उसे किसी भी प्रकार की उपाधि नहीं। वह अत्यन्त विशुद्ध, अकर्मण्य तथा अनादि नित्य सिद्ध है। अतः उसे शस्त्रों के द्वारा कौन छेद सकता है ? शस्त्रों के आघात उसपर किसी भी प्रकार असर नहीं कर सकते ।। १४५ ।।

हा प्रळयोदकें नाप्लवे । हा अग्निदाह न सम्भवे ।
एथ महाशोष न प्रभवे । मारुताचा ।। १४६ ।।

अर्थ : प्रलय काल के पानी में भी यह डूब नहीं सकता। अग्नि के द्वारा अदाह्य है। और वायु के द्वारा उसका शोषण सर्वथा असम्भव है ।। १४६ ।।

व्याख्या : इस आत्मतत्त्व को प्रलयोदक में डुबाना भी असम्भव है। अग्नि के द्वारा जलाया नहीं जा सकता। वायु के द्वारा उसका शोषण कभी सम्भव नहीं। आत्मतत्त्व इस प्रकार अविनाशी, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य है ।। १४६ ।।

अर्जुना हा नित्य । अचळ हा शाश्वत ।
सर्वत्र सदोदित । परिपूर्ण हा ।। १४७ ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! यह सचमुच नित्य, शाश्वत, अचल, सर्वत्र सदैव परिपूर्ण है ।। १४७ ।।

व्याख्या : हे अर्जुन ! यही वह आत्मतत्त्व है कि परमात्मा के समान ही है । किसी भी प्रकार वह चलित नहीं हो सकता । किसी से भी हिलाया नहीं जा सकता । उसे किसी भी प्रकार की बाधाएँ नहीं पहुँचती । वह सचमुच शाश्वत, पुरातन, नित्य है । जीवभाव का ही यह महत्त्व है कि वहीं भी स्थिर शान्ति है, नित्यता है किंतु यह पाने के लिये ज्ञाननिष्ठा आवश्यक है । जीवभाव का आविष्कार उपाधियों से युक्त रहता है । वहाँ वह शरीरी बनकर है, फिर भी निर्लिप्त है । वह अपने में पूर्ण है किंतु देहबुद्धि अन्यान्य भोगों को उसपर चढाती है । सच्ची शान्ति, पूर्णता, ज्ञाननिष्ठा, समधातता उसे ठीक ठीक पहचानने में है । बोध, ज्ञान, समाधान, विवेक तथा जीवन सौंदर्य यहाँ जरूर ओतप्रोत है किंतु वह समझ लेना आवश्यक है ।। १४७ ।

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २५ ।।

अर्थ : इस आत्मतत्त्व को अव्यक्त (नाम रूप रहित तथा इन्द्रियों को अगोचर), अचिंत्य (मनसे न अगोचर), अविकारी (जिसमें किसी भी प्रकार के विकार नहीं निर्माण होते) कहते हैं । अत: उसे इस प्रकार जानकर तुम्हें इस सन्दर्भ में शोक करना उचित नहीं ।। २५ ।।

हा तर्कांचिया दृष्टी । गोचर नव्हे किरीटी ।
ध्यान याचिये भेटी । उत्कंठा वाहे ।। १४८ ।।

अर्थ : हे किरिटी ! यह तर्क के द्वारा दिखाई नहीं देता। इससे मिलने के लिये ध्यान भी उत्कंठित रहता है ।। १४८ ।।

व्याख्या : यह आत्मतत्त्व तर्क से उपलब्ध नहीं हो सकता। तर्कों के द्वारा गोचर सृष्टि उपलब्ध है, उसका अनुमान किया जाता है। उसे परिचित कराया जाता है। जब ध्यान किया जाता है तब भी वह ज्ञात नहीं। ध्यान को भी उत्सुकता है कि इससे मिलूँ। उत्सुकता में भी उल्हास है फिर भी मन की ध्यान मग्नता केवल मिलन की आतुरता है। वह पाया नहीं जाता। गात्र उत्कंठित रहते हैं, मन में ध्यास है फिर भी यह तत्त्व दुर्लभ रहता है ।। १४८ ।।

हा सदा दुर्लभ मना । आप नव्हे साधना ।
निस्सीम हा अर्जुना । पुरुषोत्तम ।। १४९ ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! यह आत्मतत्त्व मन को दुर्लभ है, साधना के द्वारा प्राप्त नहीं। यह सीमा रहित पुरुषोत्तम है ।।१४९।।

व्याख्या : हे अर्जुन ! इस आत्मा को मन के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। वह मन के लिये बहु दुर्लभ है। वह स्वयं 'सिद्ध' है। किसी भी साधना के द्वारा वह साध्य नहीं। वह साधनाओं में सम्भव नहीं। यह सचमुच निस्सीम है। वही पुरुषोत्तम है। निस्सीमता की सीमा भी यहाँ लाँघी गयी है। इसी लिये भक्ति, श्रद्धा या भाव उसी प्रकार निस्सीम हो तो सम्भव है कि वह आत्मतत्त्व अपना दर्शन आपही करायेगा।

अपनी श्रेष्ठता, उत्तमता, व्यापकता अनुभव करायेगा। ऐसे आत्मदर्शन का सुयोग पाने के लिये कितनी बड़ी उत्कन्ठा होगी? सचमुच इस उत्कन्ठा का वर्णन नहीं हो सकता ॥१४९॥

हा गुणत्रयरहितु। व्यक्तीस अतीतु।
अनादि अविक्रितु। सर्वरूपु ॥ १५० ॥

अर्थ : यह त्रिगुणातीत, व्यक्तित्व से परे, अनादि अविकृत तथा सर्वरूप है॥ १५० ॥

व्याख्या : त्रिगुणों का संघात किसी भी प्रकार आत्मापर असर नहीं कर सकता। देह रूपमें यदि उसकी अभिव्यक्ति है, तो भी त्रिगुणों के द्वारा उसके स्वरूप में बाधा नहीं पहुँचती। वह आत्मत्त्व व्यक्तित्व से, त्रिगुणों से अतीत है। व्यक्तित्व से परे है। किसी भी प्रकार की क्रिया, कर्म या कार्य आत्मा को न निर्माण कर सकते हैं, न उसकी प्राप्ति कराते हैं। व्यक्तित्व से परे तथा त्रिगुणातीत होने के कारण आत्मतत्त्व को कर्म से स्पर्श तक सम्भव नहीं। फिर भी वह सर्वरूप है, सर्वगत है और व्यक्तिगत भी है। वह व्यष्टिरूप होकर भी समष्टि रूप है। वह अनादि है। किसी भी प्रकार वह 'कार्य' नहीं हो सकता। उसपर असर नहीं हो सकता। वह आदितत्त्व है। सर्वगत तथा एक देशीय वही है। सभी प्रकार के रूपों में, इस सम्पूर्ण जगत् में वही ओतप्रोत है। उसका ही व्यापक आविष्कार है। जो इसके अनुसन्धान में सफल हो सका वह सचमुच सर्वरूप हो गया। सर्वात्मक भाव से वह भी ओतप्रोत हो जाता है। विश्वात्मक अनुभूति से उसका जीवन सफल हो जाता है।

॥ १५० ॥

अर्जुना ऐसा हा जाणावा । सकळात्मक देखावा ।
मग सहजें शोक आघवा । हरेल तुझा ।। १५१ ।।

अर्थ : हे अर्जुन ! इस सकलात्मक दृश्य को इसी प्रकार ज्ञान कर ले फिर तेरा दुःख पूरी तरह नष्ट हो जायेगा ।।१५१।।

व्याख्या : हे अर्जुन ! तुम इसे ज्ञात कर लो । यही जानने योग्य है । इसे ठीक ठीक जान लो । इसे समझने के लिये भी एक मार्ग है । यह समूची सृष्टि, यह विश्व देखते समय आन्तरिक आत्मतत्त्व को पहचानना होगा । वही आत्मतत्त्व सर्वात्मक रूपमें विश्व में दिखाई देता है । वह सर्वात्मक 'स्वरूप' ज्ञात करने योग्य है । वही एकमेव ज्ञातव्य है । उसकी पहचान में 'ज्ञान' स्वयमेव सिद्ध है । जो तुम में है वही इस विश्वमें समाया है । यही ज्ञान उदित होने पर फिर ब्रह्म प्रतिष्ठित बुद्धि सर्वांतर्यामी होकर विश्वव्यापक हो जायेगी । " वासुदेवः सर्वम् " यह ब्रह्मभावना अनुभव की जाती है ।

इस जगत् के सन्दर्भ में ब्रह्मभावना का अभ्यास महती साधना है । जब यह समूचा जगत् ब्रह्मरूप प्रतीत होने लगता है तब आत्मज्ञान की नित्यनूतन अनुभूति अन्तर को प्रसन्नता से पुष्ट करती है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्' यह प्रतीति मनुष्य जीवन की सफलता है । ब्रह्मभावना मनुष्य की बुद्धि को, उसकी देह-बुद्धि को परास्त करती है । मनको हटाती है । सर्वत्र ' एक-मेवाद्वितीयम् ' का साक्षात्कार कराती है । फिर 'शोचनीय' कुछ भी नहीं रह जाता । 'शोक' का मूलकारण देहबुद्धि है । वह जब परास्त होती है तब 'शोक' कौन, किस लिये करेगा ?

सर्वत्र एकमेव ब्रह्मही है तो फिर पृथकत्त्व की सत्ता है कहाँ ? शरीर को प्राधान्य नहीं। वह तो मायारूप बन जाता है। केवल आत्मतत्त्वही सर्वत्र है। और कुछ भी नहीं। उसकी पहचान हुई, दु:ख का कारण ही नहीं रहा। 'स्व' रूप ही 'सर्वात्मक रूपमें प्रतीत हुआ। 'स्व' के लिये सच्चा 'भवन' प्राप्त होता है। विश्व उसी प्रकार आत्मतत्त्व के लिये विलास-भवन हो जाता है। फिर दु:ख काहे का ? शोक किस बात का ? ॥ १५१ ॥

अथ चैतं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अर्थ : तुम्हें किसी भी प्रकार शोक करना उचित नहीं। अगर तुम इस आत्मतत्त्व को नित्य जन्मनेवाला मानते हो या (जन्मने के कारण) मर्त्य मानते हो या नित्य मानते हो तो भी उसके बारे में शोक उचित नहीं ॥ २६ ॥

(अगर वह नित्य जन्मनेवाला हो तो जन्मता रहेगाही, मरनेवाला हो तो वह मौलिक हैही नहीं कि जिसके बारे में शोक करें। अगर वह नित्य है तो वह कहीं नहीं गया है। अत: दु:ख के कारण आन्तरिक शान्ति का स्वरूप मत खो डालो। सजग रहो। आत्मत्व की ओर ध्यान देनाही उचित है। मनुष्य के पार्थिव शरीर में स्थित आत्मा सूक्ष्म देह में भी है और पार्थिव शरीर में प्राण धारण करने की क्षमता भी सूक्ष्म देहमें है। अत: प्राणधारणा होती ही है। उसकी योग्यता के अनुसार जन्म–मृत्यु तथा शरीरधारणा होती ही रहती है। आत्मत्व की

यह प्राणधारणा ठीक रूपसे ज्ञात कर लेना उचित है। एक वार ये 'प्राण' अधीन हो गये कि फिर शोक नहीं रह सकता। फिर न मरण है न जन्म)

अथवा एेसा (हा) नेणसी। तूं अंतवंतचि (हें) मानिसी।
तऱ्ही शोचूं न पवसि। पांडुकुमरा ॥ १५२ ॥

अर्थ : अगर तुम इसे नाशवान समझते हो तो भी, हे अर्जुन ! शोक करना सर्वथा अनुचित है ॥ १५२ ॥

व्याख्या : यह सम्भव है कि यह आत्मविलास तुम्हारी समझ में नहीं होगा। तुम आत्मज्ञात की आभा से सम्पन्न न होंगे तो भी शरीर धारण करते ही हो। शरीरधर्म तो स्पष्ट है। शरीर सर्वथा नष्ट होनेवाला है। 'शीर्यते यत् शरीरम्।' जो क्षीण होता है वही शरीर है। यह उसका धर्म है। वह अन्तवन्तही है। शरीर में स्थित जो ब्रह्म है वही शरीरधारणा का मूलाधार है। 'आत्मप्रभा' ही महत्त्वपूर्ण, स्थायी, अविनाशी है। उसे ज्ञात कर लेने पर तुम आत्मवान् हो जाओगे। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया तुम ठीक रूपसे समझोगे। वह दृढतासे ज्ञात हो जाने पर खेद को जगह नहीं। शोक होगाही नहीं ॥१५२॥

जे आदि स्थिति अन्तु। हा निरन्तर असे नित्यु।
जैसा प्रवाहो अनस्युतु। गंगाजळाचा। ॥ १५३ ॥

अर्थ : उत्पत्ति, स्थिति तथा लय इनका क्रम निरन्तर जारी है। यह सचमुच नित्य, निरन्तर अखण्ड गंगाजी के पानी के प्रवाह के समान है ॥ १५३ ॥

व्याख्या : यह आत्मतत्त्व आदि है, स्थिति में भी है और

लय होने के अनंतर भी है। ये तीनों अवस्थाएँ उसपर ही भासमान होती हैं। निरन्तर क्रम से ये अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। गंगौघ जिस प्रकार अखण्ड है उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय का सिलसिला नित्य जारी है। वह भी अखण्ड रूपसे विद्यमान रहता है। वस्तुत: वह मूलभूत सत्य मूलत: 'अनाम', अगोचर है। किंतु इस विश्व के रूपमें उसका बहुविध विलास शुरू होता है तब वह 'अनाम' नामरूपात्मक होकर स्वीकार्य, हो जाता है। फिर सर्वत्र द्वन्द्वात्मकता अनुभव की जाती है । नित्य-अनित्य, आस्तिक्य-नास्तिक्य, सुविचार-अविचार, सम्भ्रम-निष्कर्ष, सार-असार, उपाधि-निरुपाधि इस प्रकार विविध द्वन्द्वों के बीच जीवन अनुभव किया जाता है। फिर भी इसी प्रकार की द्वन्द्वात्मक अवस्था में उसके अभिनव विलास में वह 'पुरुष' रूपमें अन्वर्थनामा हो जाता है। उसके कारण चैतन्य है, साधना है, सफलता है। वह बिंबरूपमें शरीर में है, मठमें है। देहमें है, देहान्त के अनंतर सर्वगामी है। उसकी सत्ता स्वयंभू, सक्रिय तथा सर्वविलक्षण है। सर्वसामर्थ्य सम्पन्न आतमराज जीवभाव के साम्राज्य के चक्रवर्ती हैं। फिर भी कोई पहचानता है। वह मूलत: अनाम है तथा अमनीभाव में ही अनुभव किया जाता है। कभी गोचर नहीं। जो जानते हैं वे कह नहीं सकते, जो कहते हैं वे असल में नहीं जानते।

उस परब्रह्म का जब 'पुरुष' रूपमें अवतार है तभी उसका पुरुषार्थ दास है। इस चराचर विश्व के कण कणमें वह अपने अस्तित्व को बनाये रखता है और अपने विलास तथा प्रकाश के

द्वारा आत्मतत्व की अनुभूति से सम्पन्न कराने में जीव को सहाय्यक भी है। इस चराचर में व्याप्त होने की वजह उसकी अपनी मर्यादा बनी रहती है। सीमा रहती है। उत्पत्ति, स्थिति लय के चक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है।

जो इस आत्मत्त्व की अनुभूति से सम्पन्न है वह स्थिर स्वरूप में आत्मानन्द को अनुभव करता है। वह अपनी स्वभाव-स्वरूप स्थिति कभी त्याग नहीं सकता। व्यामोह या शोक उससे कोसों दूर रहता है। आत्मस्थिति का अनुभव अखण्ड रूपमें, नित्य, निरन्तर धारावाहिक रहता है। यह समूचा विश्वसंभावन उसकी दृष्टिसे ब्रह्म विलास रहता है। आत्माका ही आविष्कार या अवतार है वह। उस आत्मत्व की उपलब्धि का प्रयास चिरन्तन श्रेयोमय हो जाता है। इसी लिये 'कर्म' है जो 'योग' वैभव ला देता है। कर्तव्य कर्म की सीमा इसीमें निहित है। कर्तव्यकर्म की निष्काम साधना उस विश्वरूप परब्रह्म की पहचान के लिये, उसे अपनी देहमें अनुभव करने के लिये तथा उसे अपने जीवन में ओतप्रोत भर देने के लिये नितांत आवश्यक रहती है। उस देवताभाव का अवतरण इस प्रकार मनुष्य जीवन के कर्तव्य कर्म की चरम सीमा है। यहाँ कर्मों के द्वारा 'फल' की आशा करना निरर्थक, व्यर्थ तथा भ्रांतिपूर्ण है। वह सत्त्वस्थ, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानघन तथा आनन्दस्वरूप तत्त्व की उपासना के सर्वथा विरुद्ध होगा। कर्म के फल सदैव प्राप्त होते हैं फिर भी उनकी आशा साधना में बाधक रहती हैं। कर्मबन्ध पैदा होता है। 'फलाशा' या 'पारितोषिक' की इच्छा

वस्तुत: आत्माविष्कार के लिये, आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिये होनेवाली साधना निष्काम न होकर सकाम हो जायेगी। 'सकाम' साधना आत्मतत्व की उपलब्धि कभी अनुभव नहीं करा सकती। फिर इससे जो कुछ होगा वह श्रेयहीन रहेगा। मन की दुर्बलता प्रतीत होगी। जो कुछ किया जाता है उससे अपने मन की लोभवृत्ति ही प्रकट होगी। पुरुषार्थ सिद्धि की बात तो दूर रही किंतु मन की कृपणताही प्रकट होती है। 'पौरुष' की प्राप्ति, 'पुरुषार्थ' की सिद्धि सभी साधनाओं की चरम निष्ठा है। निष्ठाहीन जीवन में कार्पण्य दोष रहता ही है। मन की दुर्बलता 'पाप' को सहयोग देती है। स्वार्थ स्वरूपानुसन्धान में है। जिसने वह 'स्वरूप' पहचान लिया है उसके लिये स्वार्थ भी परमार्थ हो जाता है उसकी स्थिति स्वानुभव सम्पन्न, निर्लेप, निर्हेतुक तथा निष्काम है। वह न कुछ चाहता है न पापलिप्त होता है, न कर्मों के बन्धन में अटकता है।

मनुष्य जीवन की सफलता का ध्येय हटाकर वहाँ केवल भरण-पोषण का ही विचार करते रहने से लाभ कहाँ है? देह-पोषण, देहधारणा के लिये आवश्यक है फिर भी वही केवल जीवन का हेतु नहीं। जीवन के द्वारा इस प्रकार निर्वाह की चिन्ता में गोते लगाने से, लोभ की लिप्सा में पडे रहने से तथा वासनाओं के झन्झट में फँसने से क्या पाया जायेगा? जहाँ देह को ही महत्त्व है वहाँ 'देही' का विचार कैसा सम्भव है? अत: हमारा कर्मविधान, हमारी साधना तथा सेवा देवताभाव को अपनाने के लिये होनी चाहिये। फिर कर्म की फलाशा न

होगी। हमारे कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धि से, समर्पण की भावना से होते रहेंगे। इससे मन की कृपणता न रहेगी। विश्वव्याप्त परतत्त्व की उपासना के लिये मन की विशालता आवश्यक है ही। जो इसे स्वीकार करेगा वह किसी न किसी प्रकार से उस महान् तत्त्व के प्रसाद की किरणों में नहाता रहेगा। वह ईश्वरी-कृपा 'सर्वभाव' से सर्वत्र विद्यमान है। आवश्यक है कि उसे स्वीकार करने योग्य हम रहें। देहपूजन न हो, ईशपूजन हो। 'पुरुष' की उपलब्धि तथा अनुभूति आजीवन आनन्द का, विश्वव्यापक परतत्त्व का साक्षात्कार कराती रहेगी। वही अमृतत्त्व है। जो पाता है, उसका जीवन चिरंतन है। अतः फलाशा उपयुक्त नहीं 'स्व' भाव ही महत्त्वपूर्ण है जो स्वरूपानुसन्धान में ही स्थिर करेगा। यही महती कृपा है। तिसपर भी कुछ बोलना बेकार है॥ १५३॥

तें आदि नाहीं खंडलें। समुद्रीं तरी असे मिनलें।
आणि जातचि मध्यें उगलें। दिसें जैसें॥ १५४॥

अर्थ : जिस प्रकार वह (गंगौघ) प्रारम्भ में (आदि में) खण्डित नहीं होता और समुद्र से मिल जाता है, साथ ही बीच में भी वह शेष रहता है॥ १५४॥

व्याख्या : गंगौघ वस्तुतः निरन्तर, धारावाहिक है। गंगा की धारा कहीं टूटती नहीं। बीच में वह खण्डित नहीं होती। वह निरन्तर बहती ही रहती है। प्रारम्भ से लेकर समुद्र से मिलने तक उसकी धारा अखण्ड रूपसे बहती है। समुद्र से मिलने पर भी बीचमें कहीं खण्ड नहीं। आदि में वह है, बीच

में-मध्य में भी वह है और अन्त में तो है ही । तीनों अवस्थाओंमें उसका अस्तित्व बना रहा है यही सहजता है, सहज स्थिति है जो तीनों अवस्थाओं में से होकर भी अपनी विद्यमानता बनायी रखती है। यह चक्र निरन्तर है और उससे गुजरने पर भी वह स्थिर है, स्थायी है, चिरन्तन है। आत्म तत्व की यह अनुभूति स्वीकार्य है। धारा बहती है किन्तु ऊपरसे देखनेपर वह स्थिर सी प्रतीत होती है। यह विश्व भी धारावाहिक है। स्थिर सा दिखाई देता है। किन्तु असल में वह अस्थिर, अस्थाई है। नित्यत्व, स्थायीत्व उसके अन्तर्गत परमात्म तत्वकोही है उसकी ही उपासना तथा साधना महत्वपूर्ण है नित्य नूतन तथा अवस्थांतरित होते हुए भी वह स्वस्थिति त्यागता नहीं। स्वभाव छोडता नही। ॥१५४॥

ये तिन्ही तयापरी। सरसींच सदा अवधारीं।
भूतांसी कवणीं अवसरीं। ठाकती ना ॥१५५॥

अर्थ :- उस प्रकार ये तीनों-उत्पत्ति, स्थिति तथा लय-अवस्थाएँ समान रूपसे प्रत्येक भूतमात्र को रहती हैं।

व्याख्या :- यह स्पष्ट है कि प्रवाह के अनुसार प्रत्येक भूतमात्र के लिये तीनों अवस्थाएँ निश्चित रूप में बाधित करती हैं। जीवभाव का यह सनातन चक्र नित्य जारी है। वह किसी भी हालत में खंडित नहीं हो सकता। शरीर तथा शरीरी दोनों जिस प्रकार एकरूप हुए हैं उसी प्रकार शरीर और ये अवस्थायें भी। उनकी अलगता स्पष्ट रूप में लक्षित नही

होती। आत्मत्व और देही की भिन्नता हम देखते हैं। देही देहरूप में अभिव्यक्त है अतः सृष्टिका क्रम छोडा नहीं जाता। पांचभौतिक देह उत्पत्ति-स्थिति तथा लय की अवस्थाओं से गुजरता रहेगा हो। यहां जीवदशा है अतः उसके अनुसार अवस्थायें होगी। पांचभौतिक तत्वों की पंचीकरण की योग्यता सर्वत्र प्रभावकारी रहती है। अतः सृष्टिके नियमानुकूल भूतदशा का उद्भव विकास तथा विनाश समान रूप से सभी के लिये अनिवार्य सा है। ॥१५५॥

म्हणौनि हे आघवें। (एथ) तुज न लगे शोचावें।
जे स्थिति चि हे स्वभावें। अनादि ऐसी॥ १५६॥

अर्थ : अतः यह सब कुछ शोक करने योग्य नहीं। यह तो अनादि ऐसी स्वाभाविक स्थिति है। ।१५६।

व्याख्या :- सृष्टिक्रम की यह गतिशीलता सचमुच स्वाभाविक है। वह अनादि है। सनातन रूप से वह जारी रहती है। वह अनिवार्य भी है। कोई इसे टाल नही सकता। यह धारा अबाध गति से बहती रही है। अतः यहां खेद क्यों कर? यह स्थिति ही गतिशील है जो बाद में लय की ओर ले जाती है। जो कुछ होता है वह अनिवार्य है, अटल है। वह स्वाभाविक होने से उस संदर्भ में शोक, दुःख, विषाद मानना सर्वथा अनुचित है। ॥१५६॥

नातरि हें अर्जुना। नयेचि तुझिया मना।
तें देखोनि अधीना। जन्म क्षया॥ १५७॥

अर्थ : हे अर्जुन ! यह तुम जानते नहीं कि ये सभी जन्म तथा मृत्यु के अधीन हैं। ॥ १५७॥

व्याख्या : यह जो समूचा दृश्य है वह सर्वथा सृष्टिक्रम के अधीन है। सृष्टि के नियमानुसार वह सब जन्म–मृत्यु के अधीन है। सृष्टि का चक्र अपरिवर्तनीय अनिवार्य है। यह तुम जानते हो फिर भी यह बात मनमें दृढता से स्वीकारते नहीं। यह क्यों ? हे अर्जुन ! जो स्पष्ट हे, स्वाभाविक है उसे समग्र रूपमें समझ लो। जो जन्म-मुत्यू को सही मानता है वह उसके कारण शोक करता है। वस्तुतः यह सृष्टि का एक स्वाभाविक क्रम है फिर भी आत्मत्व को किसी भी प्रकार हानि नहीं पहुंचाता। दृश्य, द्रष्टा दोनों में एक ही "वस्तु" की प्रभा है ओर वह नित्य है। ॥ १५७ ॥

तरी येथें कांहो। तुज शोकासि कारण नाहीं।
हे जन्म मृत्यु पाहीं। अपरिहार ॥ १५८ ॥

अर्थ : यहां शोक करने योग्य कुछ भी कारण नही है जो कि जन्म तथा मृत्यु अपरिहार्य हैं। ॥ १५८ ॥

व्याख्या : जन्म तथा मुत्यु को कोई टाल नहीं सकता। जो बात अपने अधीन की नहीं उस सन्दर्भ में शोक क्यों करें ? यह प्रकृति के नियमों का प्रभाव है जो सदैव प्रबल रहा है। जो होनहार है, निश्चित रूप में होनेवाला है उसके बारे में खेद करना व्यर्थ है। ॥ १५८ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २७ ।।

अर्थ : जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है। जिसकी मृत्यु हुई है वह फिरसे निश्चित रूप में जन्मने वाला भी है। अतः जो अपरिहार्य है उस सन्दर्भ में शोक करना तुझे उचित नहीं। ।।२७।

उपजें तें नाशे । नाशले (तें) पुनरपि दिसें ।
हें घटिकायन्त्र जैसे । परिभ्रमें गा । ।।१५९।।

अर्थ : जो निर्माण होता है वह नष्ट भी होता है और नष्ट हुआ फिरसे दिखाई देता है। यह घटिका यन्त्र के समान हरदम जारी है। ।। १५९ ।

व्याख्या : जो जन्मता है वह मरता है। यह चक्र निरन्तर जारी है। यह घटिका यन्त्र के समान है। इस भ्रमण में खण्ड नहीं। ।।१५९।।

नातरि उदो-अस्तु अपैसे। अखण्डित होत जात तैसे।
हें जन्म मरण तैसें । अनिवार जगीं ।। १६० ।।

अर्थ : उदय तथा अस्त दोनों स्वाभाविक रूपसे अखण्ड होते हैं। उस प्रकार जन्म मरण भी इस जगतमें अनिवार्य हैं।

व्याख्या : सूर्य के उगनेपर दिवस है। वहां प्रकाश है, ज्ञान है। सूर्य का अस्त होने पर अन्धेरा छा जाता है। कुछ समझता नहीं उस समय। उदय तथा अस्त दोनों भी अवस्थाएं

नित्यरूप में अनुभव की जाती हैं। मनुष्य की देह के बारे में यही अनुभव किया जा सकता है। यह जन्म-मृत्यु का आवर्तन नित्य शुरू है। वह अनिवार्य है। सूर्य के उदयास्त के समान वह भी अटल है। ॥१६०॥

महाप्रलय अवसरे। हें त्रैलोक्यही संव्हरे।
म्हणौनि हा न परिहरे। आदि अन्तु ॥ १६१॥

अर्थ : महाप्रलय के समय इस त्रैलोक्य का भी संहार होता है अतः यह आदि तथा अन्त अपरिहार्य है। ॥१६१॥

व्याख्या : यह स्पष्ट है कि आदि तथा अन्त दोनो अपरिहार्य रहते हैं। केवल अनादि अनंत सत्ता स्वरूपतः स्थायी है। उसकी विद्यमानता नित्य है किन्तु जब नामरूपात्मक जगत् निर्माण होता है तब उसमें परब्रह्म सत्ता अन्तर्निहित होनेपर भी वह आदि-अन्त के चक्र में पडता है। त्रैलोक्य भीं महाप्रलय के समय नष्ट होता है। स्वाभाविक रूप में ही यह सिलसिला है जो कोई टाल नही सकता। अन्तर्निहित परमात्म सत्ता की ही यह लीला है जो कोई बाधित कर नही सकता। आत्मसत्ता कभी बाधित नही होसकती। ॥ १६१॥

तूं जरी हें ऐसें मानिसी। तरी खेद कां करिसी।
काय जाणतचि नेणसी। धनुर्धरा ॥ १६२ ॥

अर्थ : अगर तुम इसे समझते हो तो फिर खेद क्यों कर रहे हो? हे धनुर्धर! तुम जानने पर भी अज्ञानी जैसी स्थिति क्यों अपनाते हो? ॥ १६२॥

व्याख्या : यह इस प्रकार शास्त्रों में वर्णित किया गया सृष्टिक्रम तथा उसके नियम स्वाभाविक रूपमें ही इस जगत् में सर्वत्र अनुभव किये जाते हैं। वस्तुतः यह तो केवल अनुषंगिक रूपमें कह रहा हूं । यद्यपि जन्म-मृत्यु आदि के चक्र के बारेमें तुम्हारी धारणा सही है तो भी उससे आत्मनिष्ठा नहीं जगायी जा सकती। आत्मत्व की ओर ध्यान देनेसेही, उस आत्मभाव को अपनानेसेही इस ब्रम्हांड के उद्भव से या विनाश से तुम्हारी आत्मस्थिति में बाधा नहीं पहुँचेगी। किसी भी प्रकार के कर्म बंधक नहीं होंगे। यह तो सब कुछ सविस्तार समझाया है। यह बात बार बार दुहरायी है तिसपर भी तुम अपनी ही बात पर अडे रहोगे तो फिर कहना ही क्या ? यह तुम्हारा हठ है। तत्वविवेचन तो हुआ है, जन्म-मृत्यु की अपरिहार्यता भी तुम समझते हो । फिर भी अज्ञानी जैसा बर्ताव करने को तुम उद्युक्त हो। इस प्रकार बालबुद्धि प्रकट करना सर्वथा अनुचित है। तुम्हारा बुद्धि वृक्ष और उसके फल क्या परिपक्व नहीं हुए ? बुद्धि को इतनी अस्थिर रखना कहांतक योग्य है। अज्ञानी जैसा बर्ताव का खेद करोगे तो क्या उचित होगा ? हे अर्जुन ! प्रौढ़ता प्राप्त होने पर भी बालबुद्धि को प्रकट करते रहने से क्या लाभ होगा ? न वहां बुद्धि की प्रगल्भता है, न ज्ञानी की निष्ठा। यह अज्ञान, बाल्य किसी भी प्रकार शोभा नही देता। तुम धनुर्धर हो। कर्तव्याकर्तव्य जानते हो। जीवन की गतिविधि से तुम परिचित हो। सृष्टिक्रम की जानकारी रखते हो फिर भी अज्ञानी होकर खेद करते हो। महदाश्चर्य !

॥ १६२ ॥

येथें आणिक ही एक पार्था । तुज बहुतीं परी पाहतां ।
दुःख करावया सर्वथा । विषो नाहीं ।। १६३ ।।

अर्थ : और यह भी स्पष्ट है कि हे पार्थ ! तुम्हारे लिये किसी भी प्रकार विचार करने पर दुःख करने योग्य कुछ विषय है हो नहीं । ।।१६३।।

व्याख्या : और यहां एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उसकी ओर तुम ध्यान दो ।तुम्हारे संदर्भ में बहुत कुछ विचार करनेपर भी दुःख का कारण लक्षित नही होता । अगर यह आत्मसत्ता तुम पहचानोगे तो फिर दुःख का मूल हेतु ही नष्ट हुआ। वह परतत्वस्पर्श ऐसा है कि जो देहात्मवादी बुद्धिको रहने नहीं देता । देह के कारण दुःख नहीं रहेगा । यहां देहसंबन्ध से जो लगाव पैदा होते हैं वे सर्वथा विषादात्मक रहते हैं। जब यह आस्था आत्मरूप में स्थिर होती है तो फिर ऐसा कुछ भी कारण नहीं होसकता जो अपनी प्रसन्नता खो देगा। देहात्मक दुःख महत्वपूर्ण है भी नहीं। मौलिकता केवल आत्मीयता में है । यह आत्मीयता, आत्मज्ञान की प्रभा जब अपनी दीप्ति से उजियाला फैलाती है तब अज्ञान तिमिर को रहना भी मुश्किल होता है । ऐसी स्थिति में तुम्हें चाहिए कि दुःख न करके अन्तर्मुख हो जाओ ।

मनुष्य जन्म की ही यह सत्ता है कि जहां आत्मसंपन्नता का अनुभव किया जा सकता है। केवल दुःख करते रहने से क्या लाभ? पुरुषार्थ को अपनाना होगा । अपनी जीवनपरिक्रमा

उस चैतन्य देवता के आलोक में पूरी करनी है। उसके होने में जीवन–हेतु सफल होसकता है। यहां अपना कुछ भी नहीं, जो कुछ है या होता है वह उस अगाध सत्ता का संकेत है। यह पहचान जीवन में ओतप्रोत होनी चाहिए। ऐसा होजाने से उस आत्मतत्त्व का अवगाहन सर्वत्र अनुभव होगा। पुरुषार्थ के लिए हमारी देह पुरुष–भवन होकर उसके हेतु में सहायक रहेगी। फिर दुःख करने योग्य क्या हैं? अतः दुःख मत करो। यही बार बार कहना है। भूलो मत !।१६३।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ।। २८ ।।

अर्थ : हे भरतकुलोत्पन्न पार्थ! इन भूतों का-नामरूपात्मक पदार्थों का प्रारम्भ अव्यक्त से ही है। अव्यक्त अदृश्य तथा इन्द्रियों को अगोचर है। उन पदार्थों का अन्त भी "अव्यक्त" में ही है। केवल मध्य स्थिति व्यक्त या दृश्य है। अव्यक्त से उत्पन्न होकर अव्यक्त में लीन होनेवाले इन भूतमात्रों की मध्यावस्था प्राणसम्पन्न तथा व्यक्तरूप है। यह उनकी स्वाभाविकसी गति है, फिर इस सम्बन्ध में शोक क्यों कर? ।।२८।।

व्याख्या : समूचे विश्व की निर्मिति अव्यक्त से होती है। अन्त भी अव्यक्त में है। आदि में अव्यक्त और अन्त में भी अव्यक्त। यह स्वाभाविकहो है। केवल मध्य स्थिति ऐसी हो जो गोचर है, दृश्य है। अव्यक्त से व्यक्त और फिर अव्यक्त

यह सृष्टिचक्र नित्य है। सभी पदार्थमात्र के लिए यह अबाधित नियम है। ऐसा लगता है कि जब 'व्यक्त' अव्यक्त में लीन होता है तब 'निधन' है। वस्तुतः विद्युत् जिस प्रकार संचय रूपमें—अव्यक्त रूपमें-धनरूपमें रहती है उसी प्रकार यह 'व्यक्त' धन रूप में अव्यक्त में संचित है। जब विद्युत कार्यकारी हो जाती है तब वह प्रकट होती है, दृश्य है, व्यक्त है। पदार्थ वस्तुतः आत्मसत्ता से संपन्न है। यह सत्ता अव्यक्त में स्थित है। जब वे नामरूपात्मक होकर व्यक्त होते हैं तभी 'पदार्थ' कहलाते हैं, 'भूत' कहलाते हैं। 'पद' की सार्थकता आत्मत्व में है। नामरूपमें नहीं। उसकी सच्ची प्रतिष्ठा प्राणसंपन्न होने में तथा आत्मत्व अनुभव करने में है। यह होने के हेतु अव्यक्त से 'व्यक्त' है। यह श्रेय प्राप्त होने पर व्यक्त तथा अव्यक्त की द्वंद्वात्मकता रहेगी ही नहीं। जब तक 'पहचान' नहीं तब तक 'व्यक्त' की 'वेदना' है। तब तक 'निधन' अमंगल है। जब 'दृश्य' भी अनुभव किया जाता है और अदृश्य 'दृष्टा' भी अपनी दृष्टि से अपने आप को देखा करता है तब दृश्य अदृश्य की माया न रहेगी, न किसी प्रकार की वेदना भी।

मनुष्य जन्म का चक्र निरन्तर शुरू रहता है। उसका यह हेतु है कि व्यक्तावस्था में प्राणसंपन्नता है जो मनुष्य को पुरुषार्थके लिए प्रेरणा दे सकती है। इस हेतु को आंखों से ओझल हो देने से ही मनुष्य फंसता है। फिर निरन्तर 'चक्र' में घूमता रहता है। निधन का दुःख है, जन्म का आनन्द। बात यह

है कि न कोई जन्मता है न मरता । केवल अवस्थान्तर है । व्यक्त स्थिति स्वाभाविक है ही नही किन्तु हम उसे सही मानते हें । अतः शोक है ।

जें समस्तें इये भूतें । जन्मा आदि अमूर्तें ।
मग पातलीं व्यक्तीते । जन्मलिया ।। १६४ ।।

अर्थ : ये सभी भूतमात्र जन्मने के पहले अमूर्त–अव्यक्त-रूप में होते हैं । जन्मने के बाद–नामरूपात्मक होकर–व्यक्त रूपमें हें । ।। १६४ ।।

व्याख्या : वनस्पतियों का पोषण चंद्रमा के कारण है । इस व्यक्त जगत् में भी पोषण मुख्यतः आत्मसम्पन्न सिद्धों के द्वारा सफल होता है । मौलिक अव्यक्त रूपमें स्थित आत्मसंपन्नता जब प्राणसंपन्न होकर व्यक्ताधिष्ठित होती है तब उसे व्यक्ता-वस्थाकी सीमा है । जो व्यक्तावस्थामें उस मौलिकता को, उस परतत्त्व को अपनाए हुये हैं, वे ही सिद्ध हैं । अैसे ही समर्थ हैं जो जीवन को सम्पन्न बना सकते हैं । आत्म पोषण कर सकते हैं । अतः उनके द्वारा अनुग्रहीत होकर ' पुरुषार्थ ' का 'प्रभव' पाना मनुष्य जन्मकी कृतार्थता है । व्यक्तावस्थामें ही यह संभव है । यह महत्त्व जानकर उस अमृतमय योगजीवन की पहचान कराने का प्रयास ही सर्वथा आवश्यक है । पांच भूतों में विलीन रहने की अपेक्षा ' आपंचीकृत ' होकर व्यक्तावस्था स्वीकृत करने से ही यह देवतादुर्लभ साधना सम्भव है । वह आत्मिक सम्पन्नता, प्राणधारणा तथा मूलभूत पोषण अनुभव

करना आवश्यक है। अतः जन्म ने के पहले अमूर्त–अव्यक्त रूप भूत मात्र, जन्मने के बाद व्यक्त होते हैं। कार्यकारी रहते हैं। साथही उस विशाल अनुभव की क्षमता भी पाते हैं।
॥ १६४ ॥

तियें क्षयासि जेथ जाती। तेथें निभ्रांत आने नव्हती।
देखे पूर्वस्थितीच येती। आपुलिये ॥ १६५ ॥

अर्थ : जब भूतमात्रों का क्षय होता है तब यही निश्चित है कि वे कहीं अन्यत्र नही जाते या अन्य भी रूप नहीं पाते तो अपनी पूर्वस्थिति को–अव्यक्त रूप को प्राप्त करते हैं।
॥ १६५ ॥

व्याख्या : यह स्पष्ट है कि भूत मात्र का क्षय होता है तब उसकी व्यक्तावस्था नहीं रहती। उस समय अैसा लगता है कि क्षयावस्था कुछ और है कि जो कुछ ओर ही बना देती है। वस्तुतः ऐसी स्थिति नही है। व्यक्तावस्था का विनाश याने अपने स्वरूपमें–पूर्वरूप में – लय है। पूर्वावस्थाही प्राप्त होती है जो ' अव्यक्त ' है। अतः जब मनुष्य जीवन में इस अव्यक्त भाव का तथ्य अनुभव किया जाता है तब जोवन की सफलता है। जब तक यह ज्ञात नहीं तब तक जीवभाव का पोषण दूर है। आत्मभाव की संपन्नता नहीं। अव्यक्त तथा व्यक्त की ' अलगता ', पृथकता प्रतीत होती है। मूलतः वह पृथकत्व व्यक्त रूपमेंही है क्यों कि वहाँ यथास्थितिको पाना है। जोवन के अमृत मधुर फल स्वीकारने हैं। यह न होने पर

जन्म मृत्यु का चक्र निरन्तर है ही। आवश्यक है कि उस आत्मीयता का पोषण जीवन पर्यंन्त रहे तथा उसके पश्चात् भी आत्मीयता में ही अन्त हो। यह होने के लिए सिद्ध वचनामृत का पान आवश्यक है। उनके अनुग्रह मात्र से यह जीवित सफल है अन्यथा नहीं। ।। १६५ ।।

येर मध्ये जे प्रतिभासे। तें निद्रिता स्वप्न अैसे।
तैसा आकार हा माया वशें। सत्स्वरूपीं ।। १६६ ।।

अर्थ : इस प्रकार व्यक्तावस्थामें–मध्य में–जो कुछ प्रतीत होता है वह निद्रित आदमी के स्वप्न के समान है। सत्स्वरूप पर यह माया के कारण नामरूपात्मक दृश्य प्रकट होता है। ।।१६६।।

व्याख्या : यह सृष्टिक्रम निश्चित है। अपने नियमानुसार वह शुरू रहता है। निरन्तर रूपमें 'आदि–मध्य–अन्त' के स्वरूप में उसका प्रवर्तन है। अव्यक्त उसका आधार या मूलतत्त्व है। वह सत्स्वरूप अव्यक्त है। व्यक्तावस्थामें भूतोंके द्वारा विलास शुरू है। वस्तुत: व्यक्तावस्था सही नही। अव्यक्त ही सही है। जब 'व्यक्त' अव्यक्त में लीन होता है तब उसका क्षय हुआ है सो बात भी नहीं। वह तो अपने मूल रूप को पाता है। व्यक्तावस्था में भी जो कि एक प्रकार भ्रान्त अवस्था है, भूत तत्वों को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, ऐसा नहीं। वे 'तत्त्व' सर्वथा मौलिक नहीं। उनकी धारणा, स्थिति तथा उत्पत्ति भी मूलत: अव्यक्त के कारण ही है।

'जनपद' को छोडकर कुछ काल जिस प्रकार विजनवास किया जाता है उस प्रकार यहाँ भी 'व्यक्त' की स्थिति है। 'व्यक्त' की विशेषता उन नामरूपों की सृष्टि और उसका हेतु सर्वथा पुरुषार्थ सिद्धि है। जब यह प्रवर्तन सफलता की ओर बढता नहीं तब उस का बोझ भी कम होता है। फिर 'अव्यक्त' में लय है। जहाँ अपना सत्स्वरूप अनुभव किया जाता है। प्रसव तथा प्रतिप्रसव विशिष्ट हेतु के ही कारण होते रहते हैं। मनुष्य इस देह में भी यही बात अनुभव करता है। 'दृश्य' के नाना विध रूपों में जब वह परतत्त्व ओझलसा रहता है तब उसकी आत्मा व्याकुल हो उठती है। फिर मनुष्य अंतर्मुख हो कर इन पंचतत्त्वों के चँगुल से छुटकारा पाता है और आंतरिक अनुसधान में लगा रहता है। वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा अपने में ही प्रतिप्रसव की प्रक्रिया शुरु रहती है। मनुष्य रूप में जो नाना विध आडंबर तथा असत् के स्वप्निल आविष्कार प्रकट होते हैं उन्हें त्याग कर अपने मूलभाव की ओर बढने का प्रयास रहता है। ऐसा करने में मनुष्य की पौरुषता जाग उठती है। पुरुष तत्त्व की सहायता प्राप्त होती है और जीवन को सफलता का प्रत्यय आता है। भूतों के पांचभौतिक तत्त्वों का प्रयास इस प्रकार अपने स्वाभाविक पोषण प्राप्त होने के लिये ही है। मनुष्य को पुरुषार्थता प्राप्त करने के लिये ही।

यह विश्वसंभव की प्रक्रिया भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पांचभौतिक तत्त्वों का यह सुन्दर विलास विश्व के कण कण में पुरुषार्थ की प्रेरणा देने में समर्थ है। उन के

अन्तर में भी वह परमतत्त्व समाया है जो अज्ञान के कारण तथा तमोगुण के प्राबल्य के कारण प्रकट नहीं हो सकता। फिर भी समूचे 'दृश्य' में वह रम गया है। यह सचमुच मायिक है क्यों कि वह सत्स्वरूप 'अव्यक्त' ही है। मायिक दृश्य की सत्ता भी सत्स्वरूप के अधिष्ठान में है। माया भी बलवती होती है। जिस में तत्त्वनिष्ठा उदित नहीं, वह उसे पार नहीं कर सकता। जो इसे पहचानता है वह उपर्युक्त तथ्य को जानकर उसकी लीला आधार लेकर विश्व के तथा अन्तस्थ आत्मतत्त्व को पहचानता है। धर्म धारणा के रूपमें ही उसकी देहधारणा हो जाती है। वह स्वरूप, वह आकार उस आत्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है। वही एक अनेकानेक आकारों में सर्वत्र प्रकटसा होता है।

अव्यक्त का यह आविष्कार 'मध्य' में व्यक्त रूप में है। वह सर्वथा मायारूप तथा स्वप्न जैसा है। स्वप्न में मनुष्य प्रत्येक बात को सही मानता है। इस 'दृश्य' में भी वही होता है। व्यक्त सचमुच सही लगता है। ज्ञानहीन के लिये वह सही है और ज्ञानी के लिये वह 'मायिक' है। फिर भी वह अव्यक्त का आविष्कार है, आत्मस्वरूप का 'स्वरूप' है जो उसकी अपनी पहचान के लिये ही आविष्कृत होता है। यही समझना योग्य है।। १६६ ।।

ना तरी पवनें स्पर्शिलें नीर। पढियासे तरंगाकार।
कां परापेक्षां अलंकार। व्यक्ती कनकीं।। १६७ ।।

अर्थ :— वायु के झोंके के कारण पानी में लहरें पैदा होती

है और वह तरंगाकार भासमान होता है। दूसरे की इच्छा के अनुसार सुवर्ण अलंकार के रूप में व्यक्त होता है ।।१६७।।

व्याख्या :– वायु के झोंके के कारण पानी में लहरें पैदा होती हैं। वे वस्तुतः कहाँ सही हैं? पानी तरंगाकार भी दिखाई देता है, क्या उससे पानी की मूलस्थिति में बदल है? वह अपने रूप में स्थिर है। अगर कोई सुवर्ण का गहना बनायगा तो उस के लिये वही सुवर्ण अलकार रूप हो जाता है। इस प्रकार आकार प्राप्त होने से 'सुवर्ण' के मौलिक स्वरूप मे क्या कमी निर्माण हुई? क्या तब्दीली हुई? ।।१६७।।

तैसें सकळ हें मूर्त । जाण पां माया करित ।
जैसें आकाशीं बिंबत । अभ्रपटळ ।। १६८ ।।

अर्थ :– जिस प्रकार आकाश में मेघपटल दिखाई देता है उसी प्रकार यह 'व्यक्त' उस माया के कारण निर्माण हुआ है ।। १६८ ।।

व्याख्या :– यह जो कुछ निर्माण होता है, बदलता है, नष्ट होता है वह वस्तुतः माया का कार्य है। वही कर्तृत्ववान् है। आकाश में मेघों के पटल निर्माण होते हैं, उनके भिन्न भिन्न आकार–रूप दिखाई देते हैं, उसी प्रकार इस दृश्य जगत् का समूचा वैभव है कि जो असल में है ही नहीं। आकाश में स्थिर गन्धवों के नगरों के समान यह मायिक है ।। १६८ ।।

तैसें आदीचि (जें) नाहीं । तयालागीं तूं रुदसी कायी ।
तूं अवीट तें पाहीं । चैतन्य एक ।। १६९ ।।

अर्थ :– जो आदि में भी नहीं, उस लिये तुम क्यों रोते हो ? तुम जो अविनाशी, अमर चैतन्यतत्त्व हो, उस ओर ध्यान दो । ।।१६९।।

व्याख्या :– यहाँ किसी भी प्रकार मौलिकता नहीं । सब कुछ मायिक है । असली सत्ता उस 'चैतन्य' की है । फिर तुम्हारे रोने को क्या अर्थ है ? क्यों कर दुःख कर रहे हो ? इससे क्या लाभ ? तुम तो कुछ समझते हो या नहीं ? अतः यह माया छोड दो । तुम अपने स्वभाव को, अपने मूल भाव को पहचानो । उसे ठीक रूपसे अनुभव करो । उसे अपनाओ । आत्मरूप की आत्मीयता स्वीकार करो । मायिक लोभ त्याग दो । तुम अपने आपको ही स्वीकार करो । इससे तुम 'चैतन्य' को ही अपनाओगे । तुम स्वयं 'परतत्त्व' हो । उसी के कारण तुम हो, उससे ही तुम्हारी अभिव्यक्ति है । तुम केवल चैतन्य हो । यह मत भूलो । ।।१६९।।

जयाची आर्तीचि भोगित । विषयीं त्यजिले संत ।
जयालागीं विरक्त । वनवासिये ।। १७० ।।

अर्थ :– जिसके प्राप्ति की इच्छा होने पर संत विषयों को त्यागते हैं और विरक्त वनवासी हो जाते हैं । ।।१७०।।

व्याख्या :– यहाँ सर्वत्र चैतन्य की सत्ता है। वही एक सर्वत्र तथा सर्वगत है। तुम्हीं चैतन्य हो। जो उसकी इच्छा करता है वह अपने में पर्याप्त परिवर्तन अनुभव करता है। मुमुक्षु उसे जानना चाहते हैं, ज्ञान कर लेना चाहते हैं। उनकी वह इच्छा इतनी प्रभावकारी रहती है कि विषय अपने आप दूर हटते हैं। वे चुप बैठते हैं। सन्तों के द्वारा भी इसी प्रकार विषय त्याग है। उन्हें विषय याने भोग रूप रोग है। क्या कोई 'रोग' को खुशी से अपनायेगा? विषयों ने ही उन्हें त्याग दिया हो। उस परमतत्त्व का ज्ञान पाने के लिय, उसका गुह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये विरक्त भी लालायित हो उठते हैं। वे घर गिरस्थी छोडकर वनवास स्वीकार करते हैं। उनकी इच्छा प्रभावकारी है। वे जनपद को त्याग देते हैं। चैतन्य को अपनाने के लिये उद्युक्त रहते हैं। ॥१७०॥

दृष्टि सूनि जयातें। ब्रह्मचर्यादि व्रतें।
मुनीश्वर तपातें। आचरताती ॥ १७१ ॥

अर्थ :– जिस ध्येय को सामने रखकर मुनीश्वर ब्रह्मचर्यादि व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। ॥१७१॥

व्याख्या :– विरक्ति तथा आर्तता के कारण विषय तो दूर ही रहते हैं। यहाँ केवल चैतन्य साक्षात्कार की इच्छा बलवती है। अत्यन्त सावधानी से, सजग रहकर मुनीश्वर अनुष्ठान करते रहते हैं। उस पद को अपनाते हैं कि जो सर्वगत होकर भी अगोचर है। ब्रह्मचर्य, दिनक्रम वगैरह द्वारा

तथा यागविधान का अनुष्ठान करके उस महान तत्त्व से 'योग' पाने के लिए वे प्रयत्नशील रहते हैं। ॥१७१॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
॥ २९ ॥

अर्थ :– कोई इस आत्मतत्त्व को अद्भुत रूप में देखता है तो कोई दूसरा इसे आश्चर्यरूप कहता है। और कोई 'अदभुत रूप' में सुनता है। (जब इसे देखा जाता है तब वह अद्भुत दीख पडता है, आश्चर्यचकित होकर इस के बारे में कोई कहता है कि यह 'अद्भुत' है, साथ ही आश्चर्य के साथ ही इसे सुना जाता है) इसका विलक्षणत्व सचमुच अद्भुत है कि जो देखने, कहने तथा सुनने पर भी समझा नहीं जाता। वह ज्ञात नहीं हो सकता।

व्याख्या :– इस देह में स्थित प्राणशक्ति का महत्त्व उस पर ही अवलंबित है। वही प्राणों का प्राण है। उसे बुद्धि से ज्ञात कराना असंभव है। मन-बुद्धि तथा इन्द्रियों से वह अज्ञात रहता है। वह सर्वथा अगोचर है। उसे देखनेवाला केवल 'आश्चर्य युक्त' होकर रह जाता है। उस के बारे में कहनेवाला आश्चर्य से ओतप्रोत होकर ही कुछ कह देता है। सुनने वाला आश्चर्यचकित रह जाता है। वह एक 'आश्चर्य' है कि जो अपने पूरे रूप में देखा नहीं जाता, कहा नहीं जाता या सुना भी नहीं जाता क्योंकि वह सर्वथा अगोचर है। जो सचमुच

महान् 'आश्चर्य' है उसके अनुसंधान में लगे रहने पर कहना-सुनना या देखना भी नष्ट हो जाता है। ये सभी क्रियाएँ अपने आप विराम पाती हैं। वह सभी को मानो चुरा के अपने में विलीन कर लेता है। फिर जो परिणाम है वह 'आश्चर्य' का ही। न कोई देखता है, न सुनता है न कहता है। मन, बुद्धि आदि का सारा भ्रम उस दर्शन में नष्ट हो जाता है। फिर देहाभिमान भी नहीं रहता। केवल आत्मत्व की अनुभूति की जाती है कि जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जाता! आश्चर्य! अनिर्वचनीय!! अतः जब यह 'हो'कर ही रह जाते हैं तब 'आश्चर्य' का और कोई 'भाव', जो प्राकृतिक अवस्था में है, असंभव है। सच्ची परख हो जाती है तब अपने मूलभाव को अपनाया जाता है।

अतः हे अर्जुन! उस आत्मस्थिति कोही अपनाना आवश्यक है। अपना शान्त, स्थिर, निरपेक्ष स्वरूप त्यागना उचित नहीं। स्थिर 'स्वभाव' को अपनाना चाहिय। स्थिर वृत्ति को अपनाता जा। अपनी स्थिति को स्वीकार करता जा। देहाभिमान की भूल में 'स्वत्त्व' को भूलना उचित नहीं। जिसके कारण देह की प्रतिष्ठा, प्राणों की प्रतिष्ठा है वही केवल प्रौढता की, सफलता की, निष्ठा की चरम सीमा है। उस को अपनाने में सब कुछ पाया जायेगा। ॥२९॥

एक अंतरीं निश्चळ। जें न्याहाळितां केवळ।
विसरले सकळ। संसार जात ॥ १७२ ॥

अर्थ :– किसी एक ने अपने ही अंत:करण में उस निश्चल चैतन्य का देखा, फिर वह सभी जगत् को ही भूल गया।

॥ १७२ ॥

व्याख्या :– उस परतत्त्व की जगह कहाँ है ? वह तो सर्वत्र व्याप्त है फिर भी उसे अपनेही अन्तर में खोजा जाता है। जो अपन ही अन्त:करण में उस निश्चल परतत्त्व को देखता है, अनुभव करता है वह सचमुच समूचे संसार का अस्तित्वही भूल जाता है। वह अन्तर से ही इतना संपन्न, प्रसन्न तथा संतुष्ट है कि उसके लिये बाहर देखने की न जरूरी है, न कुछ देखने योग्य भी है ॥१७२॥

> एक गुणानुवाद करितां। उपरती होऊनि चित्तां।
> निरवधि तल्लीनता। निरतर ॥ १७३ ॥

अर्थ :– जो कोई उसके गुणों का अनुवाद करता रहता है, वह विरक्ति को ही अपनाता है तथा उसे अखण्ड तल्लीनता, तादात्म्य पाता है। ॥१७३॥

व्याख्या :– जो कोई उसके गुणों का संकीर्तन करने में मग्न है तथा अपना सर्वस्व जो इस प्रकार उस म लगा देता है, उसके चित्त में विरक्ति पैदा होती है। उपरति, विरक्ति आदि स्वभाव विशेष वस्तुत: स्थिरता प्राप्त कराने वाली विशेष वृत्तियाँ हैं। उनके द्वारा चित्र एकाग्र हो जाता है तथा तादात्म्य अपनाता है। फिर तल्लीनता अखण्ड रूपसे विद्यमान रहती है ॥ १७३ ॥

एक एकतांचि निवाले । ते देहभावीं सांडिलें ।
एक अनुभवें पातले । तद्रूपता ।। १७४ ।।

अर्थ :– कोई उसे सुनते ही शांत होत जाता है, उसकी देहबुद्धि नष्ट हो जाती है। और कोई उसका अनुभव करने पर उससे तादात्म्य पाता हैं।

व्याख्या :– कोई ऐसा भी है कि जो सुनने पर देहबुद्धि को झट त्याग देता है। उसकी स्थिति बदल जाती है। मन-बुद्धि दोनों अपने मूलभाव में स्थित होते हैं। नितरां शांति का अनुभव किया जाता है। वह अपनी स्थिति से, आत्मरूप से संलग्न रहता हैं। वैसे ही दूसरा कोई इसका अनुभव करने पर सचमुच तद्रूप हो जाता है। उस नित्य स्वरूप में मग्न रहता है। वहीं रमता है ।।१७४।।

जैसें सरितांचे ओघ समस्त । समुद्रामाजी मिळत ।
परी माघोते न समात । पातलें नाहीं ।।१७५।।

अर्थ :– सभी नदियों के प्रवाह आखिर में समुद्र से ही मिलते हैं, समुद्र में समाविष्ट व होने पर भी वे फिर लौटते नहीं। ।। १७५ ।।

व्याख्या :– नदी समुद्र से मिलती है। समुद्र अपने में तृप्त तथा परिपूर्ण है। वहाँ नदी को जगह नहीं ऐसा भी नहीं होता। उसका प्रवाह समुद्र में बराबर जाता है। अगर अवकाश न हो तो भी समुद्र की ओर ही प्रवाह बहता रहता

है। वह किसी भी हालत में वापस लौटता नहीं। यह भी स्पष्ट है कि समुद्र अपने में नदी को समाविष्ट करता ही है। फिर नदी 'नदी' नहीं रही वह समुद्र ही हो जाती है। समस्त नदियों के प्रवाह इस प्रकार समुद्र में अवगाहन करते हैं और समुद्ररूप हो जाते हैं। ।।१७५।।

तैसी या योगीश्वरांचिया मति। मिळणीसवें एक वाटति।
परी जे विचारूनी पुनरावृत्ति। भजतीच ना ।।१७६।।

अर्थ :– उस प्रकार योगीश्वरों की बुद्धियाँ ब्रह्म में लीन होते ही, ब्रह्मरूप हो जाती हैं। उनके बारे में पुनर्जन्मादि पुनरावृत्ति कभी संभव नहीं। ।।१७६।।

व्याख्या :– जिस प्रकार नदी सागर में लीन होने पर वह फिरसे नदीरूप नहीं होती या वापस भी नहीं लौटती, उस प्रकार योगीश्वरों की बुद्धियाँ उस ब्रह्म-सागर में विलीन होने पर फिर किसी भी प्रकार पुनरावृत्ति को नहीं पाती। जन्म-मृत्यु के आवर्त में वे नहीं फँसतीं। योगीश्वर स्वयमेव 'ब्रह्म' हो जाते हैं फिर कहाँ जन्म और कहाँ मौत ? ।।१७६।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्यभारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि नत्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

अर्थ :– हे अर्जुन ! यह देहधारी आत्मतत्त्व नित्य है, वह ब्रह्म ही है अतः सर्वथा अवध्य है। अतएव इन सभी भूतमात्रों के बारे में शोक करना छोड दो ।। ३० ।।

जे सर्वत्र सर्वही देहीं । जया करितांही घात नाहीं ।
तें विश्वात्मक तूं पाहीं । चैतन्य एक ।। १७७ ।।

अर्थ :- जो सर्वत्र विद्यमान है, सभी देहों में स्थित है, जिसे नष्ट करने का प्रयत्न करनेपर भी जो नष्ट नहीं होता, उसे तू विश्वात्मक चैतन्य रूपमें अनुभव कर । ।। १७७।।

व्याख्या :- यह ब्रह्म सर्वगत है, सर्वत्र है । विविध प्रकार के तथा सभी देहों में वह। एक अधिष्ठित है । उसकी विद्य-मानता कभी नष्ट नहीं हो सकती । किसी भी प्रकार प्रयत्न करने पर भी उसे हानि नहीं पहुँचती । वह नष्ट नहीं हो सकता । वह विश्वात्मक परतत्त्व चैतन्यरूप आनन्दघन है । उसकी सत्ता अक्षय है । उसका अनुभव करना परम प्राप्तव्य है, चरम सफलता हैं । ।।१७७।।

ययाचेनि स्वभावें । हें होत जात आघवें ।
तरी सांग काय शोचावें । येथें तुवां ।।१७८।।

अर्थ :- इसका ही यह स्वभाव है कि यह सब कुछ निर्माण होता है तथा विनष्ट भी होता है । फिर यह कह कि यहाँ शोक करने योग्य क्या है ? ।।१७८।।

व्याख्या :- यहाँ स्वभाव ही ऐसा है कि जन्मना तथा मृत्यु पाना अनिवार्य है । यह उत्पत्ति विनाश की ओर ही ले जाती है । अतः शोक करने योग्य कुछ भी नहीं । समस्त प्राकृतिक बातों को त्यागकर केवल ब्रह्मचैतन्य के अनुसंधान में

लगे रहो। उसे भूलो मत। यह अनुभव करने पर तू स्वयं अपने को चैतन्य रूप अनुभव करेगा। फिर खेद नहीं, दुःख नहीं क्यों कि मोह नहीं, लोभ नहीं। सर्वत्र एक आत्मसत्ता ही विद्यमान है। उस के अनुसंधान में लगे रहो, उसे प्रणाम करते रहो, जिससे उसकी पहचान होगी। ॥१७८॥

> यऱ्हवीं तरीं पार्था। तुज कां नेणों न मने चित्ता।
> परि किडाळ हें शोचितां। बहुतां परी ॥१७९॥

अर्थ :– अन्यथा, हे पार्थ! तुझे यह क्यों कर नहीं पसन्द आता? अगर तू शोक करता रहेगा तो बहुत ही बुरी बात है। ॥ १७९ ॥

व्याख्या :– हे अर्जुन! मैं तो समझ नहीं सकता कि तुझे यह क्यों नहीं पसन्द आता? यह भी स्पष्ट है कि वही एक सनातन तत्त्व सर्वगत होकर भी तुझ में समाया हुआ है। उस ओर तेरा ध्यान क्यों नहीं? क्यों कर उसका प्रभाव स्पष्ट नहीं हो रहा है? ऐसा लगता है कि तुम जानते हो, फिर भी तुम्हारा मत अब तक उदासीन है इस ओर!! अगर, हे भाई! तुम यह समझोगे, उसका अनुभव करोगे, तथा उसके अनुसंधान में लगे रहोगे तो वहाँ कुछ भी कठीन ऐसी बात नहीं है। किंतु जब अपनी ही न्यूनता अनुभव करते रहोगे तो बुराई शेष रहेगी। वहाँ कसौटी पूरी है, मोलतोल करके ठीक रूप से स्पष्ट होगा कि यह सच्चा सुवर्ण है।' जब कसौटी पूरी नहीं, तब सोने की परीक्षा कैसे संभव है? सोने में भी 'हीनता' रहेगी। यह

तो सरासर बुरी बात है। जब सोने की ओर ध्यान दिया जायेगा तभी उसकी असली महत्ता प्रकट हो सकती है। जब तक आत्मीयता का अनुभव नहीं किया जाता तब तक जो कुछ है वह हीन रहित नहीं हो सकता। इसी आत्मत्व के स्पर्श में विलक्षण सामर्थ्य तथा प्रत्ययकारिता है। उसके द्वारा आत्मत्व की अनुभूति सर्वत्र ओतप्रोत रहेगी। जहाँ देखोगे वहाँ वही सत् तत्त्व विद्यमान होगा। जब तक यह स्पर्श नहीं तब तक उसकी प्रत्ययकारिता अनुभव नहीं करोगे। सभी प्रकार का द्वंद्व विद्यमान रहेगा। अपने-पराये की बात होती रहेगी। जन्म-मृत्यु, हर्ष-शोक, सुखदु:ख, हानि-लाभ आदि द्वंद्व प्रतीत होते रहेंगे। किंतु उस क्रांतिकारी आत्मत्व के स्पर्श के द्वारा जीवन के सोने में सुगंध आ जायेगी।

वस्तुत: 'शोक' किस लिये? जब तक परायेपन की भावना है तब तक वह संभव है। जब 'मैं' की 'विभूति' विश्वरूप हो जाती है, तब खेद काहे का? किस लिये? हम शोक करते हैं क्यों कि हम कुछ नहीं कर सकते। हम विवश रहते हैं। नियति के चक्र में हमारा अपना पृथक् अस्तित्व है, अहंता है जो अपने को बनाये रखने की कोशिश करता है। जब हमारी यह स्वतन्त्र धारणा जडसे उखाडी जाती है, तब हम चिंतित होते हैं, विवश होकर रोने लगते हैं। हमारा सारा तेज, मान मिट जाता है। उत्साह हीन होकर हम उलझन में पडे रहते हैं। किसी की मौत सुनते ही हम चक्कर में पडते हैं क्यों कि वहाँ हम उसका अस्तित्व ही नष्ट हुआ है ऐसा मानते हैं।

यह कहाँ तक उचित है? वस्तु सर्वत्र एकही है, 'एकमेवाद्वितीयम्' है उस की विद्यमानता नष्ट होने की नहीं किंतु हमें पहचान नहीं अत: हमारे सिरपर भूत सँवार हो जाता है। शोक रहता है, उदासी छा जाती है। तेज का क्षय होता है। यह देह बुद्धि ही है जो रो उठती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारी देह है जो 'शोक' का कारण है। देह ही रोती है। देहबुद्धि देह को ही सत्य रूप में स्वीकार करती है। फलस्वरूप देह के नष्ट होने पर उस के लिये और आश्रय भी कहाँ होगा? शोक पदा होने का कारण यही है। अत: उस के अनुसार बर्ताव करते रहना अनुचित है। देह की ओर ध्यान देकर, पौरुष को त्याग कर करुणा को अपनाने से केवल बलहीनता स्पष्ट होगी। फिर कौन सहायक है? क्या उपदेश करेगा वह? देहममता जब तक बनी रहती है तब तक मोह-व्यामोह के झंझट से छुटकारा कहाँ? वहाँ अनुचित हठ है। बुद्धि की जडता है। 'देह' भी एक प्रकार उत्तम साधन है। विशेषत: मनुष्य जन्म दुर्लभ है। वह प्राप्त हुआ है, उस का उपयोग चरम कल्याण के लिये ही होना चाहिये। जब तुम कर्तव्य कर्म से मुंह मोड लेता है तब क्या चाहते हो तुम? तुम्हारी देह रोने लगती है। उस के अणुरेणु में ग्लानि है, शोक है, उदासी है। वे तुझपर मानो गुस्सा करते हैं। यहां जो शोक पैदा होता है वह तुम्हें सचेत करने के लिये। इस शोक रूप फंदे के द्वारा तुम्हें सजग किया जा रहा है। फन्दा है, तुम्हें व्याकुल कर रहा है। तुम्हें याद दिला रहा

है आत्मतत्व की। तुम उस ओर ध्यान दो। देह की ममता को त्याग दो। शोक रूप मोह जाल से बाहर पडो। यह जब होगा तभी कर्तव्यानुष्ठान में बाधा नहीं पहुँचेगी। जीवन आत्मप्रभा की दीप्ति से जगमगा उठेगा।

कर्तव्यानुष्ठान के बारे में तुम्हारे मन में 'निग्रह' नहीं है। एक तो देह ममता है जो इस ओर लक्ष्य केंद्रित नहीं होने देती। तुम सचमुच विपर्यस्त ज्ञान अपना रहे हो। जीवन की चरमसफलता को पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। पुरुषतत्त्व की लीला उस में संपन्न होती। यह उसकी ही इच्छा, अनुभूति जीवन की चरितार्थता है जो सभी के लिये 'आज्ञा' है। अज्ञानी जिस प्रकार चाहे जैसा बर्ताव करता है, स्वैर जीवन को अपनाता है, काम-क्रोध के द्वारा ठगाया जाता है उस प्रकार जीवन के सच्चे अर्थ को छोडकर तुम्हारा बर्ताव हो रहा है। यह सर्वथा अनिष्ट है।

प्राकृतिक क्षोभ सर्जन का स्रोत है। प्रकृति की साम्यता पुरुषार्थ का प्रकटन है। जिससे प्रकृति का क्षोभ शान्त होगा, उसको अपनाना चाहिये। वही पौरुष है, आज्ञा का पालन भी है। प्रकृति के द्वारा पुरुषार्थ की सिद्धि पाना ही महत्त्वपूर्ण है। उसी ओर ध्यान देना चाहिये। जब ऐसा होता है तब प्रकृति सचमुच आरोग्यपूर्ण है, साम्यावस्था की ओर जाती है। उसकी निरामयता पुरुषतत्त्व के अवतरण में है, उसकी अनुभूति में है। अन्यथा देहममता को परिपुष्ट करते रहने से पुरुषार्थ-

-सिद्धि संभव नहीं। फिर उदासी है, शोक है, मोह है। जीवन के झंझट बने रहते हैं। 'देह' सर्वथा प्रकृति का ही एक आविष्कार है जो प्राकृतिक बन्धों से घिरा होनेपर भी आत्मिक दीप्ति से भी सपन्न हो सकता है। आत्मप्रभा का अन्वेषण, अनुसन्धान तथा पोषण जिस देह में नहीं वहाँ केवल असफलता है। प्रकृति का ध्येयशून्य क्षोभ जीवनभर विनाश ही देखता है। वह कुछ पाता नहीं, खोता है सब कुछ। 'देह' पुरुषार्थ नहीं, साधना है। 'साधना' का संकेत जहाँ नहीं वहाँ चेतना का, चरितार्थता का अभाव है। प्रकृति के आवरण में सब लुप्त सा हो जाता है। न वहाँ अनुष्ठान की वृत्ति है, न अनुशासन की प्रेरणा। न योग की धारणा न विराग की भावना। जो कुछ रहता है वह केवल 'भोग', 'दास्य', 'शोक', 'मोह' तथा 'अज्ञान'!

हे अर्जुन! ऐसा ही हो रहा है। तुम्हें क्या समझता नहीं? तुम ऐसी विपरीत धारणा लिये बैठे हो। किस प्रकार तथा कितनी कहूँ? तुम्हारा 'व्यवहार' धर्मरहित, भोगप्रधान तथा देहात्म स्वरूप हो रहा है अतः तुम्हें खेद, मोह ग्रस्त कर रहे हैं। देह तुम्हें हरा रही है, हटा रही है। प्रकृति का प्रभाव बढचढ कर यातना दे रहा है। तुम कैसे समझते नहीं? आत्माधिष्ठित होकर ही आगे बढना चाहिये। प्रकृति के अधीन होने से अपनी गृहस्थी की, अपने 'प्रपंच' की विपरीत अनुभूति को लिये हुए तुम जीवन भर 'शोक' से छुटकारा नहीं पाओगे। इसप्रकार जिन्दगी बेकार गँवाना कहाँ तक उचित है? तुम

अपनी योग्यता देखो। अपनी बलवती निष्ठा को अपना और अपनी आत्मीयता का आधार लेकर कर्तव्यानुष्ठान के रास्ते पर चलते रहो। वहाँ अडिग रहो। आत्मस्पर्श की ओर ध्यान दो। अन्यथा समूचा जीवित नाहक गँवाना पडेगा। प्रकृति का निष्ठाशून्य विस्तार किसी भी प्रकार काम का नहीं। अतः अपनी योग्यता, अपनी साधना तथा अपनी निष्ठा को अंगीकृत करके जीवभाव को सनातन सत्‌तत्त्व के साक्षात्कार के लिये सचेत करो। उसकी पहली सीढी है निर्मम हो के कर्तव्यानुष्ठान करते रहना। देहबुद्धि को त्यागना।

जब ऐसा नहीं होता तब जीवन की निकृष्ठावस्था ही वहाँ है। जीवन के लिये जीवन कभी नहीं हो सकता। वह पुरुषार्थ के लिये है। पौरुष को त्याग कर कृतार्थता कहाँ होगी? अतः निरुपाधिक होने से पहले उपाधि को समझ लो। प्रकृति के गौरव का योग है कि वह 'पौरुष' की सिद्धि में भी सहायक होती है। उसका आरोग्य उसके क्षोभ में नहीं, साम्यावस्था में है। उस ओर ले जानेवाली कृतियाँ योगबुद्धि से प्रेरित रहती हैं। योग देह को विरक्त बनाता है, आत्मत्व से युक्त करता है। यह देहधारणा एक प्रकार गृहस्थी है, जो पुरुष की चरितार्थता के लिए है। इसे भूलकर अगर कुछ प्रयत्न किये जायेंगे तो उनके द्वारा व्यर्थ परिश्रम ही होंगे। अतः आवश्यक है कि विफलता को दूर करें। पौरुष को पायें। कर्तव्य को भूल कर कौन क्या पा सकता है? जिसके द्वारा देहपोषण ठीक नहीं होगा ऐसा अन्न खाने से क्या लाभ होगा? अगर

ऐसा होगा तो वह बुरी आदत बनी रहेगी। शराबी की अवस्था क्या और कुछ हो सकती है। वह आदी रहता है मद्य का। जीवन के पोषण की ओर ही ध्यान देना उचित है। 'कर्तव्यानुष्ठान' यही उसका नाम है। जो यह नहीं चाहता वह जीवन के सत्त्व को ही नहीं अपनाता है। फिर शोक है, दुःख है।

अतः हे भारत ! मोह छोडो, कर्तव्यानुष्ठान का पथ अपनाओ। उस पर चलते रहो। त्याग की बात मत सोचो, मोह को त्यागो। यह प्रसंगही एसा है कि जहाँ खाली बैठ रहने से हानि ही हानि है। समर प्रसंग में पौरुषही महत्त्व का है। यही एक कर्तव्य है। क्षत्रियोचित कर्तव्य को त्यागना सर्वथा अधर्म है। तुम मनुष्य हो, पुरुष हो। पराक्रमी हो। फिर भी इस प्रकार कायरता दिखाते हो। मुझे अचरज है इस बातपर। कर्तव्यानुष्ठान ही महत्त्वपूर्ण है, पुण्यकर्म है, जीवन की सफलता भी वह है। यह जन्म पुण्य का परिपाक है। जन्म का समुचित विनियोग है कर्तव्यानुष्ठान ! उस ओर ध्यान दो। देह कीमत शून्य है। अहंता को महत्त्व भी नहीं। ममता निरर्थक है। कर्तव्यही महान है, उसकी ओर ध्यान दो। अग्रसर होते रहो। रास्ता तुम्हाराही है और स्वधर्म से निश्चित भी हुआ है। इस जगत् में एक भी ऐसी चीज नहीं जो निरर्थक है। हरेक के निर्माण में प्रकृति की अपनी इच्छा है, एक विशिष्ट हेतु है। जो इस हेतु को पहचानता है वही प्रकृति से भी छुटकारा पाता है। हरेक चीज की अपनी कीमत है। फिर तुम्हारे औदासिन्य

का अर्थ समझ नहीं सकता। तुम्हें भी मोल करना होगा। निरपेक्षता से जीवन के सच्चे अर्थ से अपने को संपन्न करना होगा। यह तभी संभव है जब कि तुम कर्तव्यानुष्ठान के रास्ते चलते रहोगे। निष्ठा का अनुसरण करोगे। स्वधर्म का हनन नही होने दोगे। अतः उदासी छोडो, उत्साही बन जाओ। क्रियाशील होकर अपनी योग्यता को पहचान कर जीवन के समस्त संघर्ष से मुकाबला करने को सिद्ध हो जाओ। इस में तुम्हारा हित है। वह तुम्हें शोक से दूर रखेगा। तुम्हारे सभी मनोरथ सफल होंगे। तुम्हारा पौरुष तुम्हें सन्मान प्रदान करेगा। ।।१७९।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाछ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३१।।

अर्थ :– अगर हम स्वधर्म के बारे में विचार करेंगे तो उसके अनुष्ठान में तुझे किसी भी प्रकार डर कैसे संभव ? स्वधर्म के कारण प्राप्त युद्ध से बढ कर क्षत्रीयों के लिये दूसरा कुछ भी श्रेयस् नहीं है ? न दया के कारण, न डर के कारण क्षत्रीय युद्ध से विन्मुख होते हैं। तुम क्षत्रीय धर्म जानते हो। इस प्रकार तुम अगर अपने धर्म के अनुष्ठान करने में हिचकिचाते रहोगे, तो वह कहाँ तक उचित है ? कर्तव्य का त्याग कभी भी उचित नहीं। अपने मन को संयमित करो, स्थिर रखो ! मन की चंचलता को मत अपनाओ। पुरुषार्थ को त्यागने से वह 'पुरुष' तत्त्व तुम्हें मन के अधीनही समझता रहा है। इससे तुम्हारीही हानि है। पुरुषार्थ को अपनाना चाहिये।

– आत्मा की महत्ता, उस की गुणवत्ता तथा उसकी प्राप्ति के पुरुषार्थ का विचार जब हम करते जायेंगे तब यह स्पष्ट होगा कि स्वधर्म ही महान् है, उसका अपना बडप्पन है। संभव है कि स्वधर्म के अनुष्ठान में कभी कठोरता भी आवश्यक रहती है। क्षत्रीय के लिए युद्ध में कठोर होना ही चाहिये। वहाँ दया का अभाव अनिवार्य है। फिर डर क्यों कर ? स्वधर्म को त्याग कर दूसरी साधना 'श्रेयस्' नहीं दिला सकती।

तूं अजुनी कां न विचारिसी। काय हें चिंतित आहासी।
स्वधर्म तों विसरलासी। तरावें जेणें।। १८० ।।

अर्थ :– तुम अब भी यह विचार नहीं करते हो और व्यर्थ ही अन्य बातों की चिंता में पडे हो। स्वधर्म को भूलकर, फिर किस के आधारपर तुम पार हो जाओगे ?

व्याख्या :– इस भवसागर से पार होने की चिंता तुम्हें नहीं। तुम अब भी इस विचार में नहीं हो। अपने स्वधर्म को त्याग रहे हो। अन्य बातों की ही गुत्थी सुलझाने में पडे हो। स्वधर्म को भूलकर भला कोई अन्य साधन उपयुक्त होगा ? यह तुम्हारी बडी भारी भूल है। वही स्वधर्म ही केवल तुम्हारे लिये तारक है। तुम उसे अपनाते नहीं और चाहते हो पराङ्मुखता। तुम पीठ फिराते हो उस ओर से। अतः अपने स्वधर्म के बारे में ही विचार करते रहो। वह श्रेयस् का श्रेष्ठतम साधन है। वही श्रेष्ठतम साधना। उससे मुंह मत मोडो। ।। १८० ।।

या कौरवां भलते जाहालें । अथवा तुजचि कांहीं पातलें ।
कां युगचि हें बुडालें । जऱ्ही येथें ।। १८१ ।।

अर्थ :– यदि इन कौरवों के बारे में या तेरे बारे में कुछ अनिष्ट हुआ, या यह युग भी नष्ट हुआ, तो भी यहाँ........ (स्वधर्म ही स्वीकार्य है ।) ।।१८१।।

व्याख्या :– तुम जो कुछ कह रहे हो वह सर्वथा भ्रम है । शब्दच्छल के सिवा तुम्हारे कथन में कुछ नहीं । तुम अपने धर्म को त्याग रहे हो । क्षत्रियोचित वीरता छोडकर, धर्म का त्याग कर झूठी श्रेष्ठता का आडंबर स्वीकार रहे हो । तुम्हारी उदासीनता वैराग्य के कारण नहीं, वह तो एक मिथ्या भ्रम है जिससे तुम अपनी असली सत्ता, अपना धर्म तथा कर्तव्य को ठुकरा रहे हो । तुम अपने अंतस्तल को इस प्रकार माया के ही अधीन कर रहे हो । प्रकृति का प्रथम किरण है 'शब्द' जो तुम्हें इस प्रकार व्यथित करके बुरी तरह आजमा रहा है । परतत्त्व की सत्ता ठुकरा रहे हो तुम । स्वधर्म हानि का विचार ही तुम नहीं करते हो । बडी अचरज की बात है ।

तुम्हें ऐसा लगता है कि यह प्राप्त संघर्ष सर्वथा हानिकर होगा । तुम्हारा अपना अस्तित्व भी नष्ट होगा । किन्तु यह भूल है । तुम्हारे मन में यह विकल्पसा निर्माण हुआ है । न तो तुम युगप्रवर्तन कर सकते, न युग का विनाश भी । फिर भला यह व्यर्थ का कर्तृत्वाभिमान क्यों ढो रहे हो ? यहाँ न तुम्हारा कुछ है न और किसी का भी । चाहे कौरव नष्ट हो

जायें, चाहे तुम भी। तिसपर भी यह समूचा युग भी नष्ट हो जाय, फिर भी यहाँ कुछ स्वीकार्य हो, तो केवल एक ही है, और वह है 'स्वधर्म' ! अत: अपने को इस प्रकार दु:खी मत करो, दूसरे के अधीन मत करो। अन्य भ्रम, अभिमान आदि को त्याग दो। केवल अपने 'स्व' रूप को पहचानते हुए, कर्तव्य की ओर निष्काम भाव से अग्रसर होते जाओ। ॥१८१॥

तरी स्वधर्मु येकु आहे। तो सर्वथा त्याज्य नोहे।
मग तरिजेल काय पाहें। कृपाळुपणें ॥१८२॥

अर्थ :– स्वधर्मही एक ऐसा है जो कि सर्वथा त्याज्य नहीं। (अगर उसे त्याग दोगे तो क्या कृपया तुम्हारा उद्धार संभव है ?) जो कृपा तुम्हारे मनमें है, क्या वह तुम्हारा उद्धार कर सकेगी ? (क्यों कि कृपा का आश्रय ले लेनेसे तुम स्वधर्म का ही त्याग करते रहे हो। ॥१८२।

व्याख्या :– यहाँ स्वधर्मका ही अनुष्ठान सर्वथा उचित है। उसका त्याग करने की इच्छा भी हानिप्रद होगी। तुम दयाभाव को अपना रहे हो। क्या इससे स्वधर्म को छोडना नहीं है ? फिर वह कैसे कृपालु हो सकता है, और तुम्हारा उद्धार भी किस प्रकार संभव है ? तुम्हारी कृपा स्वधर्म त्याग है, स्वधर्म की कृपा तुम्हारा है। यह सावधान होकर समझ लो। यहाँ डरने का कुछ भी कारण नहीं। तुम शूर हो। जो उत्तम है वह सचमूच दृढ है। तुम शब्द के भँवर में मत पडे रहो। स्थिरता अपनाओ। चित्र की दृढता, स्वधर्म की निष्ठा नितरां

महत्त्वपूर्ण है। फिर आलस्य नहीं होगा। दैववाद हट जायेगा। पौरुष को प्रतिष्ठा होगी। प्रयत्न पनपता रहेगा। कर्तृत्व का अभिमानरहित उन्मेष प्रसन्नता को अपनायेगा। अद्वितीय आनन्द से तुम्हारा मनमयूर डोल उठेगा। स्वधर्म की तुलना किसीसे भी नहीं हो सकती। स्वधर्म जब इसप्रकार अपनाया जायेगा तो उदासी नष्ट होगी। कर्तव्य प्रेरणा बनी रहेगी। जन्म के हेतु को लक्षित करके जब हम उसी में रम जाते हैं, तब यह देह भी स्वधर्मबीज के रूपमें ही पनपती है। वह भी अपनी स्थिरता को पाती है, धर्मनिष्ठा के मूल में परतत्त्वस्पर्श की गहरी अनुभूति अभिप्सित है।

इस प्रकार अनुभव से संपन्न हो कर तुम अपनी 'कृपा' की ओर जब देखोगे तब जरूर पछताते रहोगे। कौन कृपालु है? किसपर कृपा बरसा रहे हो? सामने देखोगे तो खडे शूर वीर तुम्हारे पौरुष को अव्हान कर रहे हैं, तुम्हारे पराक्रम का उपहास करने को वे उद्युत हैं। तुम तो बडे प्यार से, बडी कृपासे इन पर दया प्रकट कर रहे हो। बात यों है कि तुम्हारी विकार वशता शब्दच्छल में तुम्हें अटका रही है। यह तुम्हारी हार है। यहाँ कर्तव्य से अलग होने में पुरुषार्थ का प्रयास रहेगा कहाँ?

स्वधर्मानुष्ठान से ही केवल जीवन की सफलता तुम्हें प्राप्त होगी। तुम्हारे लिये युद्ध ही धर्म्य है। तुम्हारी करुणा तुम्हें दयालु बना रही है, जिससे अपनी साधना से ही मुंह फेर रहे हो। तुम्हारी सफलता इससे दूर हो रही है। तुम्हें हरा

हटा है। सामने खडे हुए अतिरथी, महारथी, क्षत्रियोचित युद्ध के लिये सिद्ध हैं। वे स्वधर्मानुष्ठान के कारण सब कुछ पा जायेंगे, किंतु भिरुता से, अनिष्ट दया के कारण तुम स्वयं वंचित रहोगे। यह बहिर्मुखता त्याग दो। अन्तर्मुख होकर केवल स्वधर्म के ही कारण कर्तव्यानुष्ठान करते रहो।

बात यह है कि तुम युद्ध से पराङ्मुख होना चाहते हो। अधर्म की करुण कथा सुना रहे हो। कुलनाश की घोर कथा बतलाते रहे हो। तुम जिस विरक्ति की बात कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये तो संभव नहीं। क्यों कि तुम अपने धर्म के विरुद्ध ही उसे चाहते हो। उस अमृत के बारे में काफी प्रशंसा करते रहे हो, क्या सचमुच तुमने उसे प्राप्त किया है? यह तो बिलकुल शाब्दिक भ्रम है। जब उस अमृतत्व की अनुभूति के बारे में तुमसे पूछता हूँ तो तुम उस संदर्भ में बिलकुल अज्ञानी मालूम होते हो। तुम्हारी चर्चा बहुत है, अनभूति मात्र नहीं के बराबर है। केवल शब्द कभी पर्याप्त नहीं होते हैं। वहाँ सच्ची अनुभूति आवश्यक है। उसे छोडकर शब्दों के जाल में अटके रहे हो तुम ! क्या पाओगे इससे ?

अतः उस अन्तरंग की ओर ध्यान दो। उसे अपनाओ। फिर तुम अपने स्वभाव को समझोगे, अपनी वृत्ति को अपनाओगे। स्वधर्म की महिमा अनुभव करोगे। एकांत निष्ठा ही यहाँ आवश्यक है, वही स्वीकार्य है। फिर अपने प्राणों को स्वभाव में प्रतिष्ठित पाओगे। स्वधर्म की स्थिति, गति, प्रतीति

को पहचानोगे। जिससे शरीर, वस्त्र, रूप, वर्ण, गुण, विषय आदि बाह्याडंबर की, बहिर्मुखता की यथार्थता समझोगे। उन से हटकर अन्तर्स्थित अन्तरात्मा की आहट तुम सुन सकोगे। उसकी सर्वात्मकता का परिचय पाओगे। फिर युद्ध में धर्महानि की चिन्ता तुम्हें नहीं होगी। करुणा का, दया का उपहास भी नहीं होगा। देह की दुर्बलता का असर तुमपर नहीं होगा। आत्मीयता की संपन्नता में तुम मग्न रहोगे, निर्भीक होकर कर्तव्यनिष्ठा स्वीकार करोगे। फिर सच्ची कृपा कहाँ है, कौन कर सकता है? इसकी पहचान होगी। ॥ १८२ ॥

अर्जुना तुझें चित्त। जऱ्ही जाहालें द्रवीभूत।
तऱ्ही हे अनुचित। संग्राम समयीं ॥१८३॥

अर्थ :- हे अर्जुन! तिसपर भी तुम्हारा चित्त दयासे ओत-प्रोत हुआ तो, इस समर प्रसंग में वह अनुचित ही है ॥१८३॥

व्याख्या :- अतः किसी भी कारण कर्तव्य पराङ्मुख होने में भलाई नहीं है। इस प्रकार निःस्तब्ध हो जाने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। क्या कृपा, क्या स्नेह इस समय सब कुछ व्यर्थ है, मोह है। उस के द्वारा तुम्हारा पौरुष नष्ट हो रहा है। यहाँ चित्त का द्रवीभूत होंना अधर्म है। धर्म के नाम पर तुम अधर्म को स्वीकारते हो। क्षत्रियोचित युद्धधर्म से दूर रहने के लिये यह निमित्त है। तुम्हारे इस बर्ताव पर किसी को भी विश्वास नहीं होगा। यह सचमुच भ्रम है तुम्हारा। युद्धो

के क्षेत्र में मन को दृढ करते रहो। स्थिर रखो। निष्काम होकर अपने स्वधर्म के अनुष्ठान में लगे रहो। फिर लाभ हानि की चिंता नहीं ॥१८३॥

अगा गोक्षीर जऱ्ही जहालें। तऱ्ही पथ्यासी नाहीं घेतलें।
ऐसेनिहि विष होय सुदलें। नवज्वरीं देतां ॥१८४॥

अर्थ :- गौ का दूध भी क्यों न हो किंतु उसके पथ्य का भी विचार आवश्यक है, अन्यथा नवज्वर के रोगी को वह पिलाने पर विष के समान ही होगा। ॥१८४॥

व्याख्या :- वस्तुतः त्रिगुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब यह साम्यावस्था नहीं रहती तब विकार निर्माण होते हैं। प्रकृतिगत विषमावस्था विश्वसृजन की प्रेरणा है। जब चित्त समधात नहीं होता तब सत्त्वावस्था नहीं रहती। वहाँ विषमावस्था होनेसे विकारवशता को मानो बढावा ही मिलता है। इससे जन्म के मूल हेतु की ओर ध्यान नहीं रहता। त्रिविध तापों का प्रभाव रहता है और आदमी सुख-दुःख के गर्त में, जन्म-मृत्यु के चक्कर में पडा रहता है। इस-लिये आवश्यक है कि इस विषमावस्था को मिटाया जाय। यह विकारवशता हटायी जाय। सुयोग्य नियमन, जप-जाप्य, स्वधर्म का अनुष्ठान, निष्काम कर्मयोग आदि से मन की चंचलता दूर हो जाती है। विषयों का विष हट जाता है, नियमन सिद्ध होता है। जीवन की परिक्रमा या उपक्रम उस के मूल

हेतु को भूलता नहीं। पुरुषार्थ सिद्धि के सर्वथा सहायक होकर देह रहती है।

जीवनही वैषम्यपूर्ण है। विकार तो रहेंगे ही। उन्हें जडसे उखाडना असंभवसा रहता है। फिर भी जों हैं उन्हें अधीन रखने की क्षमता पाना महत्त्वपूर्ण है। विकारों का फैलाव न होने पाये इस दृष्टि से उन्हें अंकित किया जाय। अतः आवश्यक पथ्य, दवादारू आदि समुचित रूप में स्वीकारना होगा। विषयरूपी विष का अतिरेक न हो। उन्हें अतिव्याप्त नहीं होने देना चाहिये। क्यों कि उनका भुलावा बडा रहता है। वे तों स्वयं मायिक हैं और जो कुछ प्रलोभन दिखाते हैं, वे भी इसी कारण झूठे हैं। उन प्रलोभवों के कीचड में फँसने से क्या हाथ आयेगा? जहाँ तक हो सके उनसे दूर रहना उचित है। विकारों का सारा संसार सर्वथा विनाशकारी है। उन के द्वारा जीवन का पुरुषार्थ कभी हथिया नहीं जायेगा। उनकी योग्यता समझकर उन्हें अपने वश कर लेने में हम जीवन की सफलता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। अतः वहाँ आवश्यक है कि इन सभी विकारों के मूलभाव को, जीवन के सच्चे अर्थ को समझना। वहाँ विकारों तथा विचारों का दुराग्रह न हों। अन्यथा इससे अहित ही होगा।

वस्तुतः वह आत्मतत्त्व शब्दों के अतीत है। फिर भी कुछ कुछ उस संदर्भ में कहा जाता है। शब्दों की शक्ति सीमित है। उनके अर्थ भी कुछ हदतक ही सहायक होते हैं। क्या

शब्द क्या अर्थ दोनों भी इस जगत् के आविष्कार। अतः उनकी अपनी सीमा है। वे स्वयं गुणयुक्त हैं अतः 'निर्गुण' की कथा सुनाने में, अनुभव कराने में असमर्थ हैं। अतः शब्द, उनके अर्थ तथा अर्थ से अतीत होकर हम उस परानुभूति को लक्षित कर सकेंगे।

जीवन में हम यही अनुभव करते हैं। नवज्वर का रोगी है। उसे गौ का दूध सर्वथा अपथ्य है। यद्यपि 'दूध' निर्मल और श्रेष्ठ है फिर भी उस बीमार को वह सर्वथा अनुपयुक्त है। अगर वह पिलाया जाय तो विष ही पिलाने के समान होगा। दया-करुणा आदि श्रेष्ठ भाव हैं सचमुच। फिर भी उनका अनुशासन युद्ध के क्षेत्र में अनिष्ट है। उस से हानि ही होगी। क्षत्रियों के लिये युद्ध में करुणा सर्वथा हानिकारक है। स्वधर्म त्याग इसी प्रकार अपथ्यकारी होगा। उससे विकार-वशता ही उद्दीप्त हो जायेगी। विकारों के कृमि बढ़ेंगे। जीवन जो विकारों का ही एक परिणाम है वह स्वाधीन न होनेसे, पुरुषार्थ सिद्धि कहाँसे संभव है? ॥१८४॥

तैसें आनीं आन करितां। नाश होईल स्वहिता।
म्हणौनि तूं आतां। सावधु होई ॥ १८५ ॥

अर्थ :— अतः अनुचित जगह अनुचित कर्मों का अनुष्ठान अपने हित की हानि ही करेगा। तू सचेत हो जा। ॥१८५॥

व्याख्या :— प्रकृति के द्वारा हर एक वस्तु के विकास का

क्रम भी सुनिश्चित होता है। उसे अपने क्रम में बाधा पसन्द नहीं होती। वह अपने विकास क्रम के अनुसार व्यक्ति या वस्तु को विकास की चरमसीमा तक पहुँचाती है। जब हम योग्य पथ्य स्वीकार करते हैं तब दूसरे रूप में स्वधर्म को ही मानते हैं। इससे जीवन की विघटना नहीं होने पाती। त्रिगुणों की साम्यावस्था धीरे धीरे होने लगती है, जहाँ विशेष रूपसे सत्त्वसंपन्नता है। अन्यथा रज तथा तमोगुणों की अधिकता हो जानेसे आदमी अज्ञान में ही डूबा रहता है फिर व्याधी एक रहती है और औषधी और ही की जाती है। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में भी विघटना होती है। वह बोलता एक है और करता दूसरी बात। इस प्रकार विपरीत जीवन में बाधा के सिवा और क्या होगा? परमार्थ में सज्जन संगति महत्त्वपूर्ण है। उसे छोडकर अन्यत्र हम रहेंगे तो अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाडी चलाने के समान होगा। यह सचमुच विचित्र बात होती है। अपने धर्म को त्याग कर इस प्रकार विपरीत जीवन बिताने की इच्छा मूर्खता है।

तुम्हारे इस बर्ताव पर मुझे सचमुच आश्चर्य हो रहा है। तुम्हारे इस बर्ताव के कारण क्या तुम्हारी स्तुति करना उचित होगा? क्या दुख भी करना उचित है? कुछ समझता नहीं कि तुम क्यों कर इस अहितकारी बातों में आगये हो। यह समस्या ही इस प्रकार अकारण निर्माण कर रहे हो। इस भ्रामक समस्या को तुम असली समझ रहे हो। सत्य के रंग में रंगाने की चाह रखते हो किंतु तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है। तुम

अपने हितको ही खो दोगे। अतः इस अधर्म को त्याग दो। स्वधर्म को अपनाओ। सचेत होकर यह देखो कि इस अनुचित स्थानपर अनुचित कर्मों को स्वीकारना सर्वथा अहितकारी होगा। तुम्हारा चित्त संमोहित है। वह इस समस्या का असली रूप नहीं जानता। अतः वह अकारण ही करुणार्द्र होकर तुम्हें भरमा रहा है। बादमें तुम्हें पछतावा होगा अतः पहलेसे हि सचेत हो जाओ।

तुम्हारे चित्त की स्थिरता केवल स्वधर्म के अनुष्ठान पर ही अवलंबित है। उसे त्यागकर क्या वह कभी स्थिर हो सकता है ? तुम्हारी यह भूल है कि तुम इस प्रकार बर्ताव कर रहे हो। स्वधर्म ही एक ऐसा है जो पापों को नष्ट करने में समर्थ है। अज्ञान को हटाने में सहायकारी हो सकता है। उसका आश्रय त्यागने में न सुख है, न शांति न चित्तकी स्थिरता। तिसपर प्रकृति का त्रिविध दुख सहते रहना पडेगा। फिर क्या होगा ? दुख ही दुख। न धर्म रहा न सुख। जीवनभर झगडते रहोगे फिर भी एकबार इस गर्त में पड जाओगे तो उठना मुश्किल होगा। अतः आवश्यक है कि स्थिर हो के, अपने मन को स्वाधीन करते हुए, अपने आत्मिय बल के आधार पर अपने धर्म के अनुसार क्षत्रियोचित कर्म को करते रहो। वहाँ लाभहानि का दोष नहीं। वह तुम्हारा निजी धर्म है। वही तुम्हें योग्य है। उपयुक्त भी है। अन्यथा हानि धर्म की, और जीवन की विफलता तुम्हारे लिये रहेगी। अतः सचेत हो जाओ। स्वधर्म स्वीकार करो। क्षत्रियोचित वीरता दिखलाओ।

वायाचि व्याकुळ कायी । आपुला निजधर्म पाही ।
जो आचरिता बाध नाही । कवणे काळी ।।१८६।।

अर्थ :– अतः तुम अकारणही क्यों खेद कर रहे हो ? यहाँ अपने धर्म को देखो, जिसके अनुष्ठान से किसी भी प्रकार हानि नहीं हो सकती ।।१८६।।

व्याख्या :– तुम किसलिये अपने को दुखी बना रहे हो ? इस विकलता को क्या अर्थ है ? वस्तुतः अपने धर्म को छोडकर कुछ भी लाभ नहीं । अतः उसी धर्म का आचार करते रहो। स्वधर्म के कारण कभी बाधा नहीं निर्माण होती । वह सर्वथा हमारा अपना 'स्व' भाव होता है । जो आत्मीयता से ओतप्रोत है ऐसे धर्म का ही अनुष्ठान उचित है । स्वधर्म के सिवा दूसरा धर्म इसप्रकार आत्मीय नहीं हो सकता । ।।१८६।।

जैसें मार्गेंच चालतां । अपाय न पवे सर्वथा ।
कां दोपाधारें वर्ततां । नाडखळिजे ।।१८७।।

अर्थ :– अगर हम ठीक रास्तेसे जायेंगे तो बाधा नहीं हो सकती, दीप के प्रकाश में जायेंगे तो बिना रोकटोक, बिना लडखडाते हम जायेंगे । ।।१८७।।

व्याख्या :– कुलधर्म के कारण निश्चित हुआ मार्ग या महाजनों के द्वारा दिखलाया हुआ मार्ग अपनाने से अपव्यय तो संभव नहीं, बाधा भी निर्माण नहीं हो सकती । किसी भी प्रकार की रुकावट बीच में हो तो पडने की संभावना होती है ।

किंतु जब दीप हाथ में होता है तब उसके प्रकाश में क्या कोई लडखडा सकता है ? यह मार्ग प्रकाशित रहता है, सज्जनों का दिखलाया होता है, कुलधर्मादि के कारण सुनिश्चित रहता है। वे मार्ग सत्य हैं, नित्य भी हैं। उन्हें शुभाचार कह सकते हैं हम ! स्वभावज स्वधर्म ही वहाँ है। उसके अनुशासन में कष्ट नहीं हो सकते। ॥१८७॥

तयापरी पार्था। स्वधर्मं राहाटतां।
सकळकाम परिपूर्णता। सहजें होय ॥१८८॥

अर्थ :– अतः, हे पार्थ, उस प्रकार अपने स्वधर्म का अनुष्ठान करने से सभी प्रकार के मनोरथ सहजही सफल हो जाते हैं। ॥१८८॥

व्याख्या :– यहाँ संतसज्जन जो मार्ग दिखाते हैं वही स्वीकार्य है। स्वधर्म का मार्ग सबसे श्रेष्ठ है क्यों कि वहाँ स्वाभाविकता है, सरलता है। वहाँ हम जो इच्छा माँगे वह त्वरित फलस्वरूप हो जाती है। क्यों कि वहाँ सच्चा समाधान है। समधानता है। मन सन्तुष्ट रहता है, चित्त प्रसन्न हो जाता है। किसी भी प्रकार का क्षोभ नहीं हो सकता ? अतः स्वधर्म के अनुशासन में रहो। फिर तुम्हें किसी भी प्रकार की कमी न होगी। जो कुछ त्रुटि रहेगी वह झट परिपूर्ण हो जावेगी। इच्छा तत्काल सफल होगी। अतः तुम स्वधर्म की ही शरण जाओ। ॥१८८॥

म्हणौनि या लागीं पाहीं। तुम्हां क्षत्रियां आणिक कांहीं।
संग्रामा वांचूनि नाहीं। उचित जाणें ।। १८९ ।।

अर्थ :– अतः यह देखो कि तुम क्षत्रियों को संग्राम के सिवा और कुछ भी योग्य नहीं ।।१८९।।

व्याख्या :– इसलिये हे पार्थ ! तुम अपनी करुणा छोड दो। दया का आश्रय मत लो। क्षत्रियोचित संग्राम करते रहो। वहाँ लडते रहो। डरो मत। अपने धर्म को पहचानो। वही एक तारक है। तुम्हारे लिये वही योग्य है। क्षात्र धर्म के अनुसार कर्म (या कर्तृत्व) करनेपर ही क्षत्रियत्व सफल है। अन्यथा करुणा के कारण सर्वथा अनुचित आचार होता रहेगा। युद्ध से दूर भागना कहाँ तक योग्य हो सकता है ? अपने धर्म की रक्षा करनीही होगी। उपोषण, व्रत, नियम तथा इस प्रकार की दया आदि बातें क्षत्रियों के लिये अनुचित हैं। यहाँ तुम इस प्रकार कर्म से मुंह मोडोगे तो फिर स्वधर्म की हानि होगी। स्वधर्म ही साक्षात्कार की साधना है। आत्मत्व की पहचान उसके द्वारा संभव है। जब तुम्हारा क्षात्रतेज स्वधर्म त्याग के कारण नष्ट हो जायेगा तो फिर तुम्हारे जीवन में क्या रहेगा ? तुम्हारा पौरुष ही नष्ट हुआ, पुरुषार्थ को कैसे पाओगे ? यह तुम्हारी अहन्ता है जो इस कर्म के बारे में तुम्हें भुला रही है। तुम अपनीही स्तुति चाहते हो, अपनी ही श्रेष्ठता चाहते है। इसमें तुम दयाका, उदारता का, दातृत्व का आदर्श उपस्थित कर रहे हो। किंतु यह तुम्हारी भूल है।

तुम कौन हो कि जो इन पर दया बरसा रहे हो। तुम्हारे करने कराने से क्या होगा ?

यह एक प्रकार ममता, है, अहन्ता है। अपने गुणों को बढावा देना है। फिर भी मनुष्य उस देवता भाव को तभी तक नहीं अपनाता जब तक वह स्वधर्म से दूर है। स्वधर्म त्याग के कारण मन तथा बुद्धि अपनी यथार्थ स्थिति को भूल-कर बिलकुल संभ्रमित हो जाती हैं। यह भ्रम, सन्देह, परमार्थ पथपर भी किसी प्रकार उपयुक्त नहीं। इससे मनुष्य का जीवन निष्ठाहीन हो जाता है। जहाँ न श्रद्धा, है, न निष्ठा है वहाँ केवल संभ्रम मात्र रहेगा। एक प्रकार 'डर', 'भय' प्राप्त होगा। उसको संयमित करना आसान नहीं। मन तथा बुद्धि की स्थिरता जहाँ नहीं वहाँ भय रहेगा। उससे पार होना कठिन हो जाता है ?

वस्तुत: मनुष्य जन्म का हेतु पुरुषार्थ साधन है। उस ओर ध्यान न देने से यहाँ मन तथा बुद्धि नाहकही झंझट में पडी रहती है। मनुष्य जन्म एक सुन्दर अवसर है। वह सचमुच पुण्यप्रद है क्यों कि इसी देह में परमार्थ पात्रता प्राप्त है। व्यर्थ की बातों में आकर कर्तव्य की ओर ध्यान न देना सरासर मूर्खता है। मनुष्य जन्म की सफलता पुरुषार्थ पर निर्भर है। पुरुषार्थ स्वरूपदर्शन में स्वत:सिद्ध है। मन तथा बुद्धि के द्वारा एक प्रकार झंझट ही निर्माण हो जाता है, जो प्राकृतिक सुखोपभोग के सिवा और कुछ भी ला नहीं देता। प्राकृतिक

सुख कामना हेय है। जहाँ हम केवल शारीरिक उपाधियों में पडे रहते हैं और शारीरिक दुःखों से ग्रस्त रहते हैं वहाँ आत्मीयता की, अमृतत्व की, अनन्त की अनुभूति मन, बुद्धि आदि प्राकृतिक इन्द्रियों के द्वारा कैसे कर सकते हैं ? यहाँ आत्मीयता का पुण्य नहीं, अनात्म की दुःखद प्रतीति है। फिर घबराहट बनी रहती है। डर तो वहाँ केवल नहीं है कि जहाँ आत्मस्पर्श से चित्त अभय हुआ है। आत्मप्रतीति सचमुच ही अनिर्वाच्य है। उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। वह तत्त्व 'अलिंग' समझा जाता है। उसी का संकेत सुस्पष्ट करने के लिए समूचे जगत् को 'लिंग' रूप कहा गया है। यह संपूर्ण प्रवर्तन आत्मस्थिति का एक प्रकार विकार ही समझा जाता है। हम सूक्ष्मता से विचार नहीं करते। आत्मप्रतीति से ओतप्रोत हो कर इस समूचे विश्व में उस अनुभूति को अपनाना आवश्यक है किंतु हम तो केवल नामरूपात्मक जगत् को देखते हैं। उसी रूप में उसे स्वीकार करते हैं। नाम दे देते हैं किंतु सच्चे नामसूत्र को काटते हैं। फिर देहबुद्धि बनी रहती है। बोलना होता है किंतु परावाणी का प्रणवध्वनि सुनाई नहीं देता। यहाँ सबकुछ भौतिक, प्राकृतिक, भेदयुक्त रहता है। केवल आत्मवंचना हाथ में रहती है। वहाँ प्रेम बरसता है केवल भोगलिप्सा के कारण। बुद्धि पैनी रहती है केवल भव बढाने के लिए। मन मनन करता रहता है सांसारिक फलाशा की स्पृहा से। कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान 'फल' की आशा से, या 'फल' की ओर देखकर ही करने से न बन्धकत्व दूर हो

जाता है, न मन अमनोभाव को प्राप्त होता है। स्वरूप-साक्षात्कार में निःसंशय यह बाधक है।

भ्रांति फिर किसी भी अवस्था में क्यों न हो सर्वथा वंचक है। प्रेम, कृपा, त्याग, संन्यास आदि शब्दों में फँसकर इस प्रकार कर्तव्य भ्रष्ट होना, हे अर्जुन! सर्वथा अनुचित है। करुणा क्यों कर? दया किसपर बरसा रहे हो? यह तो खाली वितंडा है कि जिससे तुम अपनी मूर्खता प्रकट कर रहे हो! देह की ममता सर्वत्र है। कर्तृत्व का अभिमान कहाँ नष्ट हुआ है? यही अभिमान और ममता इस प्रकार तुम्हें दुर्बल बना रही है। न देह के लिए भूषण है न कर्तृत्व के लिए गौरवास्पद। केवल भ्रांति के कारण, दया के दंभ में तुम्हें यह कर्तव्य सूझ रहा है। यहाँ चिंता भिरुता है, चिंतन है कृपण का। कर्तव्यभ्रष्ट हो कर तुम कुछ भी नहीं पाओगे। अपना क्षात्रतेज छोड़कर इस प्रकार द्रवीभूत हो कर वैराग्य की बातें कर रहे हो। यहाँ सच्चा प्रेम है कहाँ? प्रेम आत्मीयता का अनुभव है। जो आत्मीयता को अपनाता है वह कभी कर्तव्य कर्म से मुंह नहीं मोडता। तुम्हारा दौर्बल्य, तुम्हारी भ्रांति बुद्धि को मोह चुकी है। तुम्हें ये सभी वीर ऐसे लगते हैं कि वे मानो तुम्हारी करुणा की आशा लिये खडे हैं। वे तुमसे मानो प्रार्थना कर रहे हैं कि कृपा करके दया करो, हमें बचाओ। यहाँ तुम निष्ठुर होकर उन्हें मारने को उद्युक्त हुए हो। यह सचमुच ही तुम्हारा भ्रम है।

हे पार्थ ! तुम्हारे लिए अत्यंत आवश्यक है कि तुम इस झंझट से पार हो जाओ। केवल श्रीगुरु ही यहाँ त्राता हैं। उनकी दया इस मोहमयी संसार से पार होने में सर्वथा सहायक हो सकती है। उन्हीं की कृपा की याचना करते रहो। वे ही एक समर्थ हैं कि जो सचमुच ही तुम्हारे मोह को नष्ट कर देंगे। तुम्हारे क्षात्रतेज को जीवित रखेंगे। अपने स्वधर्म का अनुष्ठान करायेंगे।

अत: हे पार्थ ! इस प्राप्त कर्तव्य को ठीक ठीक रूप में समझ लो। यही सुन्दर अवसर है जो तुम्हें सच्ची विरक्ति प्रदान करेगा। अपने स्वधर्म का साक्षात्कार करेगा। अपने शुद्ध कर्मानुष्ठान के द्वारा तुम अपने को विभूषित कर लो। आदर्श हो जाओ। आचार धर्म का आदर्श तुम खुद हो जाओ। क्षात्रवृत्ति को अपनाओ ॥१८९॥

निष्कपट होआवें। उसिणा घाई झुंजावें।
हें असो काय सांगावें। प्रत्यक्षावरी ॥१९०॥

अर्थ :- निष्कपट होकर शत्रु का प्रहार स्वीकारना चाहिये, साथही उसपर प्रहार भी करना चाहिये। वीरता के साथ लडना चाहिये। वस्तुत: ये बातें तुम्हारे लिये सुस्पष्ट हैं, फिर अधिक क्यों कर कहना ? ॥१९०॥

व्याख्या :- रण में युद्ध आवश्यक है। शत्रु के द्वारा बार बार प्रहार किये जाते हैं, उन्हें हँसमुख होकर ही स्वीकारना चाहिये। हमें भी अपनी वीरता दिखानी होगी। पराक्रम शून्य

होकर क्या कोई यश पा सकेगा ? पराक्रम, पौरुष दिखलाना होगा। प्रहार करने पड़ेंगे। क्षात्रतेज प्रकट करके पौरुष को जगमगाना होगा। फिर भी उस समय कपट न हो। घृणास्पद, अधर्मयुक्त, जालफरेब न हो। जो कुछ प्रहार करने हैं, वे निष्कपट भाव से वीरता के योग्य हों।

जीवनसंग्राम में भी यह बात स्वीकार्य है। हार-जीत तो भगवान के हाथ है। किन्तु प्रयत्न करना महत्त्वपूर्ण है। बिलकुल निडर होके, पुरुषार्थ सिद्धि के लिए योग का अनुष्ठान हो। मन का संतुलन स्थिर रहे। मनुष्य का पौरुष पुरुषार्थ सिद्धि में है। पौरुष का साक्षात्कार, आत्मप्रतीति में है। यही स्वीकार्य है, बार बार यही देखने योग्य, विचार करने योग्य, सुनने योग्य है। यही एक ज्ञातव्य है। वही केवल हैं, और कुछ है कहाँ ? वह सत्ता समझने योग्य है, क्यों कि वही प्रत्यक्ष हो सकती है। हमारे मोह, व्यामोह को हटाकर श्री गुरुचरणों की सेवा द्वारा उस साक्षात्कार के प्रसाद को पाना परम पुरुषार्थ है। इसी ओर ध्यान दिया जाय। अपना समय अन्य बातों में गँवाना अनुचित है। निष्कपट भाव से, निर्मोही होकर, निडरता से आत्मलीन होकर प्रसंगोचित कर्तव्यानुष्ठान में लगे रहने में सब कुछ प्रत्यक्ष है। उसे ही अपनाते रहो ॥ १९०॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अर्थ :– किसी भी प्रकार इच्छा न होनेपर भी यह स्वर्गद्वार

खुला करनेवाला युद्ध भाग्यवान क्षत्रियों को ही, हे पार्थ! प्राप्त होता है। यह युद्ध अपने आप, बिना प्रयत्न के सामने है। इसी के द्वारा स्वर्गद्वार मानो खुला है। यह द्वंद्व सहज ही प्राप्त रहता है। द्वंद्व ही प्रगति का खुला हुआ दरवाजा है। ऐसा प्रसंग केवल भाग्यवानों के नसीब होता है। तुम्हें अपना भाग्य ही समझना होगा। तुम सचमुच भाग्यवान हो क्यों कि इस युद्ध के द्वारा महान् यश तथा वैभव तुम्हें प्राप्त होनेवाला है। इस स्वधर्म यज्ञ का अनुष्ठान करने का तुम्हें यह मौका प्राप्त है ।। ३२ ।।

अर्जुना झुंज देख आतांचें। हें हो कां दैव तुमचे।
कीं निधान सकळ धर्माचें। प्रकटले असें ।।१९१।।

अर्थ :– हे अर्जुन! यह युद्ध तुम्हारे लिये सचमुच भाग्य ही हैं। यही समझो कि युद्ध के रूप में सभी धर्मों का निधान प्रकट हुआ है ।।१९१।।

व्याख्या :– इस युद्ध के कारण तुम्हारे मनुष्यत्व की, मनुष्य धर्म की परख हो रही है। तुम्हारा पौरुष–क्षात्रतेज यहाँ परीक्षेय है। तुम्हारा दैव निःसंशय कल्याणप्रद है। यह युद्ध न तुम्हारा अपना है, न किसी व्यक्ति विशेष का। इस युद्ध में धर्मभावना प्रधान है। युद्ध में निष्काम होकर जूझते रहने से तुम्हारे जन्म की सफलता है। फिर युद्ध देवता का होगा न कि तुम्हारा। देवता ही तुम्हें विजय देगा। सृष्टि की धार्मिकता मानो इस युद्ध के रूपमें सामने है। धर्म विधानही है वह।

अतः यह महत्त्व जानकर युद्ध करते रहो। फिर जय ही जय है। ॥१९१॥

हा संग्राम काय म्हणिपे। कीं स्वर्गचि येणें रूपें।
मूर्त कां प्रतापें। उदय केला। १९२॥

अर्थ :– यह सचमुच युद्ध हैही नहीं। तुम्हारे प्रताप के कारण यहाँ स्वर्गही इस रूप में मानो उदित हुआ है।

व्याख्या :– आचार धर्म सचमुच गहन है। क्षात्रधर्म का आचार ऊग्र है, फिर भी आवश्यक है। यहाँ जो द्वंद्व या युद्ध है उस के द्वारा धर्म की गहनता अनुभव की जायेगी। स्वर्गद्वार खुला होगा। जो पौरुष संपन्न है, वह जरूर प्रवेश पा सकेगा। वहाँ परमानन्द का द्वार है, जहाँ वीरों का स्वागत होता है। सच्चे वीर ऐसी अवस्था में अपने को भाग्यवांन् समझते हैं, जूझने को उत्सुक रहते हैं, पौरुष को प्रकट करने के लिये लालायित हो जाते हैं। उन्हें आनन्द ही आनन्द हो जाता है। वह वीर आनन्द की, उत्साह की, वीरता की साकार मूर्ति हो जाता है। वहाँ उसके पास आनन्द का अतिशय आविर्भाव है, उत्साह का आवेश है पौरुष का तेज है। ऐसे ही लोगो के लिए स्वर्गद्वार खुला रहता है। उनका मनुष्यजन्म सफल हो जाता है।

–यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे शूर वीरों के कारण स्वर्ग की शोभा बढती है। युद्ध में डटे रहने वाले ये

वीराग्रणी और जीवन में विविध द्वंद्वों में जूझने वाले निष्काम कर्मयोगी सचमुच प्रतापी हैं। यहाँ शक्ति का स्वाभाविक आविर्भाव है। जहाँ शक्ति है, वहाँ दीप्ति भी, प्रीति भी और आनन्द भी। आनन्द, शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि का मानो सगुण-सुन्दर आविष्कार, त्रिभुवनों की शोभा के रूपमें, ऐसे नरशार्दुल में दिखाई देता है। यहाँ हे अर्जुन! सकलसगुण सौंदर्य भाव ही दिव्यानन्द का स्पर्श पा कर कृतार्थ हुआ है। वर्णन करना भी दुष्कर है। उसका आवाहन सबको है। जो सर्वथा प्रेक्षणीय, दुर्लभ है, वही सामने उपस्थित होने के कारण; मानो भाग्य ही सामने आया है।

युद्ध क्षत्रिय के लिए सगुण अलंकार है। उसके द्वारा भाग्योदय है। अतः जूझते रहो। युद्ध अनिवार्य है अतः क्षात्रधर्म का स्वीकार करो ॥१९२॥

नातरी गुणाचेनि पतिकरें। आर्तिचेनि पडिभरें।
हें कीर्तिचि स्वयंवरें। आली तुज ॥ १९३ ॥

अर्थ :– तुम्हारे गुणों को सुनकर, अत्यन्त प्रेमनिर्भर होकर, स्वयं कीर्ति मानो स्वयंवर के हेतु तुम्हारे पास आयी है ॥ १९३ ॥

व्याख्या :– तुम्हारा कर्तृत्व सचमुच महान् है। क्षत्रियोचित विविध गुणों से युक्त होकर तुम अपने महत्त्व को चारों ओर फैला चुके हो। सर्वत्र तुम्हारे गुणों की महिमा सुनायी जाती है। इसी लौकिक प्रभाव के कारण यहाँ अनेकानेक प्रकार के

योद्धा तुम्हारे साथ जूझने को उत्सुक है। क्षत्रियों के सभी गुणों के हामी तुम्हीं हो। सभी गुणों की प्रतिष्ठा तुम्हारे ही कारण समझी जा रही है। तुम मानदंड बन चुके हो। गुण के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। यहाँ तुम्हारे कारण गुणों को प्रतिष्ठा है। तुम और गुण दोनों एक से हो गये हो। गुणों की प्रतिष्ठा के माने है तुम्हारी प्रतिष्ठा। अतः गुणों का मूर्तिमान् रूप तुम हो। उनकी प्रतिष्ठा बनायी रखनी चाहिये। यहाँ गुणों का प्रेम स्पष्ट है। वे तुमपर आसक्त हैं। यही आत्यंतिक आसक्ति तुम्हें वरण करने को उत्सुक है। तुम्हें और भी वैभवशाली बनाना चाहती है। कीर्ति तुमपर प्रसन्न है। यह प्रसंग तुम्हें कीर्ति प्रदान करेगा, सो बात नहीं। कीर्ति तो पहले से है। यहाँ स्वयं कीर्ति अब स्त्रीरूप धारण करके मानो तुम्हें अपनाने आयी हो। तुम्हें वरण करने को उत्सुक है।

> क्षत्रियें बहुत पुण्य कीजे। तैं झुंज ऐसें लाहिजे।
> जैसें मार्गीं जातां आडळिजे। चिंतामणीसी ॥१९४॥

अर्थ :— रास्तेसे जाते जाते चिंतामणी की प्राप्ति हो, उस प्रकार बहुत पुण्य करने के कारणही क्षत्रियों को ऐसा महान् युद्ध प्राप्त होगा।

व्याख्या :— पुण्य क्या है ? वह तो अन्तर में स्थित परमात्मा की हलकीसी दीप्ति है। उसके द्वारा प्रकाश फैलने पर उसे पहचाना जाता है। जो कर्तव्यानुष्ठान में मग्न है, अन्तर में निष्कामता है, मन मोहित नहीं, बुद्धि अमल स्वरूप में

स्थित है, ऐसीही अवस्था में ब्रह्मज्ञता प्राप्त है। उसकी आभा पुण्य है। पुण्य ही परमार्थ की गति है, पुरुषार्थ की आभा है। कर्तव्यानुष्ठान में उस की दीप्ति प्रखर होती है। युद्ध एक ऐसा प्रसंग है जो मनुष्य को सीमित और असीम की रेषा पर ला देता है, जीवन और मृत्यु की सीमा वही है। आदमी को अन्तर्मुख कराना है। जीवन के विविध स्वरूप के द्वंद्व इसी प्रकार हमें मृत्यु की याद दिलाते हैं, जीवन की सीमा स्पष्ट कराते हैं, अन्तर की अन्तर्स्थित आत्मतत्त्व की पुकार सुनाते हैं, उसकी आभा प्रसृत करते हैं।

निष्काम भाव से युद्ध में स्वधर्म का अनुष्ठान हो जाने से, स्वभाव सहज ही अनुभूत किया जाता है। मानो पुण्य संचय हो रहा हो। पुण्य के द्वारा जगह जगह पर दीप प्रज्वलित्त किये गये हों। कहीं चिंता नहीं। दर्शन है आत्मत्व का। चिंतन है परमार्थ का और अनुष्ठान है कर्तव्य का। यहाँ समर प्रसंग दिव्य है। दिव्यत्व की अनुभूति है। स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। वैभव का वरदान है। गुणों की सही शोभा है। अतः युध्द छोडकर कायरता अपनाने से पाखंड के समान बर्ताव होगा। धर्मच्युति होगी। दुष्कीर्ति फैलेगी। अत: युध्द करो। निडर होकर क्षत्रियोचित स्वधर्म को अपनाओ ॥१९४॥

नातरी जांभया पसरे मुख। तेथें अवचटें पडे पीयुष।
तैसा हा संग्राम देख। पातला असे ॥ १९५ ॥

अर्थ :– जम्हई आ जाने के कारण मुख खुला रहा अ

सहजही अमृत मुख में पडे, उस प्रकार यह (समर प्रसंग) प्राप्त हुआ है ।।१९५।।

व्याख्या :– दैव की सहजगति है । तुम बडे भाग्यवान हो । पार्थ ! तुम्हारे कारण दैव द्वारा यह संग्राम सहजही सामने आया है । तुम व्यर्थ परेशान हो । इसी युद्ध के द्वारा विजय, वैभव, पौरुष तथा स्वर्ग तुम्हें प्राप्त होनेवाला है । आदमी जम्हई लेना चाहता है । मुंह फैलाता है । उसी क्षण सौभाग्य वश अमृत की बूंद उस के मुंह में पडती है । देखो कि उस के लिए जीवन सफल हुआ । यह एक भाग्य है तुम्हारे लिए भी वही बात है । सहज प्राप्त संग्राम से तुम मुंह मत मोड़ो ।
।। १९५ ।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

अर्थ :– अगर तुम इस धर्म्य संग्राम को तैयार न होगे तो अपने स्वधर्म तथा कीर्ति की हानि करोगे तथा पाप कोही प्राप्त करोगे ।। ३३ ।।

व्याख्या :– प्रकृति द्वारा जो विविध प्रकार के द्वंद्व निर्माण होते हैं उनकी सफलता केवल पुरुषार्थ सिद्धि के ही कारण है । प्रकृति के स्वाभाविक धर्म को ठीक रूप से ज्ञात कर लेना आवश्यक है । क्रमानुष्ठान के द्वारा योग में प्रगति होती है । यहाँ प्रकृति का उद्देश्य 'पुरुष धारणा' का है, उसकी पहचान कराने का है । अतः विविध द्वंद्वों के द्वारा, अनेक गुण संयुत

होकर वह इस धर्म्य हेतु के लिए यत्नशील है। प्रकृति का रहस्य इसी में है कि वह मनुष्य को अपने धर्म द्वारा उस असीम आत्मत्व की पहचान करा देती है? द्वंद्व वहीं है, जहाँ प्राकृतिक गुण संतुलन नष्ट हुआ है। वहाँ मौलिकता नहीं पायी जाती। पुरुषार्थ का संकेत नहीं रहता। वहाँ अज्ञान ही अज्ञान रहता है। इससे न वहाँ धर्म्य स्वरूप है, न ब्रह्मचर्य! ब्रह्म में जो लीन है वही ब्रह्मचर्य का अधिकारी है। ऊर्ध्वरेता योगी इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि उस आत्मत्व का साक्षात्कार हो जाये। प्रत्यक्ष जीवन में प्रकृति का यह धर्म्य स्वरूप देखा नहीं जाता अतः केवल विकारवशता, गुणात्मकता ही रह जाती है। न सच्चा प्रेम रहता है न धर्म। जो कुछ है वह भोग लिप्सा।

अतः यहां भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि यह भाग्य सामने है उसे अपना लो। वही न्याय है। न्याय के द्वारा ही प्रगति तथा उत्कर्ष संभव है। अगर तुम युद्ध न करोगे तो अपने स्वधर्म हानि का पाप तुम्हें प्राप्त होगा। योगी तक ऐसे प्रसंगों की राह देखते हैं। ईश्वर के चरणों में समर्पित अनेक तपों का फल भी इस प्रकार का अवसर नहीं प्राप्त कर सकेगा। तुम्हारा ही बड़ा भाग्य है कि यह दिव्य अवसर प्राप्त हुआ है। उससे लाभ उठाओ। अन्यथा अपने स्वभाव की हानि, स्वधर्म की हानि होगी। स्त्रियों में श्रेष्ठ है पुरुषार्थ रूप कीर्ति। उसे फटकार कर छोडना अनुचित होगा। न कीर्ति रहेगी, न धर्म। केवल पापही प्राप्त होगा!!॥ ३३॥

आतां हा ऐसा अव्हेरिजे । मग नाथिलें शोचूं बैसिजे ।
तरी आपण आहाणा होईजे । आपणपेयां ।।१९६।।

अर्थ :- इस प्रकार उसे उपेक्षित करके फिर दुख करते रहनेसे, यही होगा कि अपनी हानि अपनेही द्वारा हुई ।।१९६।।

व्याख्या :- यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग है । अपने आप प्राप्त भी है । क्षत्रिय धर्म के अनुसार यहाँ जूझते रहने में पुरुषार्थ है । भलेही तन जाये किंतु युद्ध में डँटकर रहना होगा । अपने स्वधर्म की हानि किसी भी हालत में नहीं होनी चाहिये । भाग्य सामने है, उसे त्यागकर अनुचित दया को अपनाना सर्वथा अयोग्य है । यहाँ इस प्रकार शोक में डूबते रहोगे तो उद्धार असंभव है, वैभव दूर ही रहा किंतु जीवित की भी आशा नहीं । यह नैष्कर्म्य केवल आलस्य के कारण है, मूर्खता है । यहाँ न कर्तृत्व है, न धर्म भी । अपनी हानी है । यह मन्दता मन को मूढता है । वस्तुतः कर्तव्य की ओर अग्रसर होते हुए अपने जीवित को भी न्योछावर करना क्षत्रियोचित स्वधर्म है । युद्ध ही एक स्वीकार्य है । यहीं पुण्य है । इसी द्वारा मनुष्यत्व की महिमा बढ जाती है । आत्मदीप्ति प्रकट करने का यह प्रयास है । वहाँ स्वयं-ज्योति कर्तव्यानुष्ठान के द्वारा जगमगाती रहेगी । यद्यपि आत्मसमर्पण करना पड़े, तो भी वह पुण्य इस जगत् में किसी के साथ तुला नहीं जायेगा । सचमुच वह महान् है । जीवित महान् नहीं, उस का सफलता के साथ विनियोग महत्त्वपूर्ण है । जीवित नष्ट होता ही रहता है, किंतु किसी विशिष्ट कर्तव्य कर्म के कारण

श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार उसे समर्पित करना, जीवन संग्राम में उसके साधन रूप होकर डटे रहना, जूझते रहना तथा पराक्रम और पौरुष की गाथा निर्माण करना जीवन का चरम पुरुषार्थ है। कायर बनकर धर्मच्युत होकर जीवित रहने में न केवल हानि है, तो अधोगति भी है। अध:पात है। मनुष्य का देवता हो जानेमें जीवन सफल है। प्राप्तव्य को निष्काम भाव से स्वीकारते हुए, समर्पण बुद्धि से जीवन का विनियोग करने में उसकी सफलता है। मनुष्य की महति यही उत्तमता को लांघ कर बनी रहेगी। केवल देवताभाव मनुष्य रूपमें प्रतीत होता रहेगा ।।१९६।।

पूर्वजाचें जोडलें। आपणचि होय धाडिलें।
जरी आजी शस्त्र सांडिलें। रणीं इये ।।१९७।।

अर्थ :– पूर्वजों के द्वारा जो अर्जित है, उसका त्याग ही, आज इस युद्ध में शस्त्रत्याग करने से होगा।

व्याख्या :– अपने पूर्वजों के द्वारा धन, यश, राज्यवैभव अर्जित है। उनकी प्रतिष्ठा क्षत्रियोचित धर्मपालन में थी। क्षात्रतेज की पराभव तुम्हारी कर्तव्यच्युति के कारण हो रही है। यह तुम्हारा वर्तात्र तुम्हारे लिए हानिकारक ही नहीं तो पूर्वजों के अर्जित को भी हानि करनेवाला होगा। उनका यश, उनकी प्रतिष्ठा तुम्हारे स्वधर्म त्याग से हो जायेगी। उनके पौरुष के कारण यह राज्यवैभव, यह संपदा प्राप्त है। उनके लोकोत्तर गुणादर्श तथा कर्तृत्व को भूलकर अनुचित दया से

द्रवीभूत होकर अपने जीवन का यश तथा पूर्वजों की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलाने से तुम क्या पाओगे ? लोकोत्तर कर्तृत्व तथा महान् पौरुष के प्रतीक तुम हो । तुम्हारी दिगंत कीर्ति कलंकित हो रही है । शत्रुओं को ताप देनेवाले तुम अब अपनी तपनीयता छोड़कर दयार्द्र हो रहे हो और अपने अयश को वरण कर रहे हो । प्रत्यक्ष सहस्त्ररश्मी भगवान् सूर्यनारायण के प्रभाव से भी टकराने वाले तुम ! आज गलितगात्र हो कर रण छोडने की बातें कर रहे हो ! ! अपना अधिकार, श्रेष्ठ धर्म, यश, कीर्ति, प्रताप आदि की ओर कुछ ध्यान दो । "युद्ध को देखकर अर्जुन भाग गया" शत्रुओं के ऐसे कहने से कितनी यातनाएँ होंगी । मनुष्य जन्म लेता है तब अनेक ऋणों का बोझ उस पर रहता है । पूर्वजों की प्रतिष्ठा, उनका धन तुम पर ऋण ही है और उसे चुकाना, तुम्हारा कर्तव्य है । तुम उसे टाल नहीं सकते । अतः वृत्ति का सामर्थ्य जो स्वभाव, उस को समर्थ तथा कार्यक्षम करते हुए, अपने कर्तव्य को निभाना होगा । मनुष्य की बुद्धिमत्ता श्रीगणेशजी की कृपा है । वही उत्तमता का आदर्श है । बुद्धिदाता भगवान् गजमस्तक धारण करके मनुष्य रूप में बुद्धि की महत्ता प्रकट करता है । अतः बुद्धि की प्रगल्भता, उसकी कुशलता तथा श्रेष्ठता युद्ध में पौरुष दिखलाने में है । क्यों कि बिना द्वंद्व के बुद्धि की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती । ॥ १९७ ॥

(वरी) असती कीर्ति जाईल । जगचि अभिशाप देईल ।
आणि निवसित पावतील । महादोष ॥ १९८ ॥

अर्थ :– इस प्रकार (कर्तव्यच्युति हो जाने से) कीर्ति नष्ट हो जायेगी, जगत् की ओर से निंदा होती रहेगी और महान् दोष प्राप्त होंगे ।

व्याख्या :– अतः तुम इस प्राप्त प्रसंग को पहचानो । उसे निडरता से अपनाओ । स्वधर्मोचित कर्तव्य को स्वीकार करो । अन्यथा आज तक जो कीर्ति तुमने पायी है, वह भी जायेगी । अपकीर्ति फैलेगी । समूचा जगत् तुम्हारी निंदा करेगा । कीर्ति कलंकित करेगा । नये नये दोष दीख पडेंगे । और अन्त में महादोषों के कारण तुम्हारी हानि हो जायेगी ।।१९८।।

जैसी भर्तारे हीन वनिता । उपहनी पावे सर्वथा ।
मग तैसी दशा जीविता । स्वधर्मेवीण ।। १९९ ।।

अर्थ :– जिस प्रकार स्त्री पति के बिना प्रभावहीन तथा अपमानित सी रहती है, उसी प्रकार यह जीवित भी स्वधर्म के सिवा उसी अवस्था को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :– स्त्री का भूषण पति है । पति न होनेपर स्त्री का प्रभाव रहता नहीं । वह निस्तेज तथा अपमानित हो जाती है। जीवन के लिए स्वधर्म की योग्यता उसी प्रकार की है । स्वधर्म के सिवा जीवित भी निष्प्रभ है । वह अपमानित होगा । यह तुम अब नहीं समझोगे । अगर कर्तव्य चुत होकर बैठे रहोगे तो यही अनुभव करना पडेगा ।।१९९।।

नातरी रणीं शव सांडिजे । तें चौमेरों गिधीं विदारिजे ।
तसें स्वधर्महीना अभिभविजे । महादोषीं ॥ २००॥

अर्थ :– रणक्षेत्र में लाश पडी रहने पर चारों ओर से गीदडों से उसकी बुरी अवस्था होती है, उसी प्रकार स्वधर्महीन व्यक्ति की महादोषों के द्वारा पराजय होती है ॥२००॥

व्याख्या :– अपने जीवित को क्षुल्लक समझना अनुचित है। अपने स्वधर्म को खोकर अनुचित दया के कारण निष्क्रिय बैठे रहने से तुम्हारी अपनी श्रेष्ठता नहीं रहेगी। आज तक तुमने प्रतिष्ठा बढायी है, अब वह न रहेगी। रणक्षेत्र में पडी लाश गीदडों के द्वारा चारों ओरसे विदीर्ण की जाती है। उसे नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है। तुम स्वधर्महीन हो रहे हो। स्वधर्मही जीवन है। स्वधर्महीन शरीर लाश के समान है। उसपर अनेक दोषों के द्वारा हमला होता है। निंदकों से भी हानि होगी और धर्महीनता के कारण जीवित निष्फल, मूल्यहीन, तथा दोष युक्त होगा। तुम्हारा भय अनुचित है। धर्म को छोडने से महादोष तुम्हें जरूर व्यथित करेंगे ॥२००॥

अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ॥
संभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ :– सभी लोग तुम्हारी अपकीर्ति, अप्रतिष्ठा सदा के लिये कहते रहेंगे। सुप्रतिष्ठित लोगों को अपकीर्ति मरण से भी अधिक कष्टकारी होती है ॥ ३४ ॥

म्हणोनि स्वधर्म (हा) सांडशील। तरी पापा वरपडा होशील।
आणि अपेश तें न वचेल। कल्पान्तावरीं ॥२०१॥

अर्थ :– अगर स्वधर्म से च्युत हो जाओगे तो तुम पापों से लदे रहोगे और अपकीर्ति किसी भी हालत में कल्पान्त तक अटल रहेगी ॥२०१॥

व्याख्या :– अतः हे अर्जुन! हे प्रिय धनुर्धर! तनिक सोचो। तुम्हारा जीवन निष्फल होने योग्य नहीं। जीवित स्वधर्म के कारण सुप्रतिष्ठित है। स्वधर्मानुशासन में यश है, कीर्ति है। स्वधर्म ही जीवन का नाम सर्वस्व है। अगर तुम उसे छोड़ दोगे तो हानि ही हानि है। तुम्हारे शब्द, तुम्हारी कृति, तुम्हारी वृत्ति तथा समूचा जीवित निंदनीय होगा। वहां निंदा अपयश अटल है। प्रलय तक उससे तुम्हारा पिंड नहीं छूटेगा। कल्पान्त तक निंदा होती रहेगी। अतः फिरसे सोचो, गौर करो ॥२०१॥

जाणतेन तंवचि (वरी) जियावें। जंव अपकीर्ति आंगा न पवे।
आणि सांग पा केंवि निगावें। एथोनियां ॥२०२॥

अर्थ :– जब तक अपकीर्ति नहीं, तब तक ही ज्ञाता को जीवित रहना उचित है। फिर यहीं से किस प्रकार वापस जाना उचित है? ॥२०२॥

व्याख्या :– मतलब यह कि जो ज्ञाता है उसे अपकीर्ति से बचके रहना चाहिए। अपकीर्ति से डरना सर्वथा उचित है।

ज्ञाता अपकीर्ति हो कर जीवित नहीं रह सकता । उसे कलंकित जीवन शोभा नहीं दे सकता । जब तक कलंक नहीं, दोष नहीं तब तक ही जीवित, सच्चा जीवन ! जब कलंक है तब जीवित नहीं । तिस पर भी यहां से बाहर होने की तुम्हारी चाह होगी तो कुछ समझ नहीं सकता ।।२०२।।

तूं निर्मत्सर सदयता । एथून निघसील कीर माघौता ।
परी ते गती समस्तां । न मनेल ययां ।। २०३।।

अर्थ :- अगर तुम निर्मत्सर तथा सदय हो कर यहाँ से जाना चाहोगे, तो भी तुम्हारे इस बर्ताव पर सभी सन्देह करेंगे।

व्याख्या :- हे पार्थ ! बात यह स्पष्ट है कि तुम सदय होकर, निर्वैर होकर इस युद्ध से दूर होना चाहते हो । तुम्हारे इस बर्ताव पर यहाँ के अन्य लोगों को, योद्धाओं को विश्वास नहीं हो सकेगा । वे यह नहीं मानेंगे कि तुम सचमुच निर्वैर हो गये हो । वे समझेंगे कि तुम डर गये हो या तुम्हारी कोई और चाल है । तुम्हारी दया उनके लिए पौरुष है । तुम्हारी दया के हो कारण वे वीर बनेंगे । जिनकी वीरता देखकर अर्जुन भो डर गया, ऐसे ये वीर कहेंगे कि हमने अर्जुन को भगाया । फिर भी वे यह जरूर समझेंगे कि यह दया या निर्वैरत्व अर्जुन का नहीं । निर्वैर तथा निर्मत्सर होकर युद्ध पराङ्मुख होने से प्राप्त गति तुम्हें शोभा नहीं देगी, यह न तुम्हारा स्वभाव है, न तुम्हारा धर्म । सब तुम्हारी निंदा करेंगे।

।। २०३ ।।

हें चहूंकडूनि वेढितील । बाण वरीं घेतील ।
येथे पार्था न सुटिजेल । कृपाळूपणें ।।२०४।।

अर्थ :– (तुम्हारी भलाई, दया या निर्वैरता को स्वीकार न करते हुए) वे तुम्हें चारों ओर से घेर लेंगे । तुमपर शरवृष्टि करेंग । हे पार्थ ! तुम अपनी दया के कारण इससे बच नहीं पाओगे ।।२०४।।

व्याख्या :– वे तुम्हारी दया पर सन्देह करेंगे । तुम्हारी कृपा उन्हें अनुचित सी होगी । वे तुमपर, तुम्हारे इस बर्ताव पर विश्वास नहीं करेंगे । वे तुम पर तीर चलाएंगे । तुम्हें घेर लेंगे । केवल दया का अवलब करके तुम इस युद्ध से मुक्त नहीं हो सकते । वे तुम्हें नष्ट करने को उत्सुक हैं । उन्हें यह अनायास मौका प्राप्त हागा । न युद्ध में जय होगी, न जीवित भी रहेगा । तुम सब कुछ खो जाओगे ।।२०४।।

ऐसेनिहि प्राणसंकटें । जरी विपायें पां निघणें घट ।
तरी तें जियालें वोखटें । मरणाहुनि ।। २०५ ।।

अथ :– इस प्रकार के प्राण संकट से किसी भी उपाय से तुम छूट जाओगे, तो भी वह बचना मरण से भी हीन होगा ।
।। २०५ ।।

व्याख्या :– तुम्हारे कहने पर भला वे कैसे विश्वास कर सकेंगे ? वे तुम्हें मार डालने को उत्सुक हैं । अर्जुन पर विजय पाना उनकी दृष्टि में निःसंशय महत्वपूर्ण बात है । तुम अपने

हाथों से उन्हें मौका देंगे, उनकी सहायता करोगे। इसमें क्या भलाई है? वे तुम्हें छोडेंगे नहीं।

तुम्हारी देह को विदीर्ण करने को वे तैयार हैं। अर्जुन का नामोनिशान भी उन्हें पसन्द नही होगा। स्थल देह, लिंग देह तथा कारण देह तीनों को वे नष्ट भ्रष्ट करना चाहेंगे। इस प्रकार प्राणो को खो देने से तुम्हारे हाथ क्या आयगा? अगर किसी प्रकार का प्रयत्न करके इससे बच पाओगे तो वह बचना क्या तुम्हें शोभा देगा? अर्जुन जैसे वीरों को दूसरे की सहायतासे, दूसरो की दया से अपने प्राण बचाना क्या प्रशसनीय बात होगी? यह तो मरण से बढकर बुरी बात हुई। उसमें काहेकी वीरता और निर्वैरता? तुम्हारी निर्वैरता, दया उनकी नहीं हो सकती। वे भी वीर हैं, अपना धर्म छोडेंगे नहीं। अतः धर्महानि के कारण, आग तुम जो भी जीवन बिताओगे वह सर्वथा मरण से भी अधिक कष्टप्रद, निंद्य तथा कलंकित होगा। तुम्हारी दुर्बलता की, पराजय की, दुष्कीर्ति की वह निशानी तुम्हें आजन्म चूभती रहेगी। तुम्हारी वंचना होगी और किसी भी प्रकार तुम यश, कीर्ति नहीं पाओगे ॥२०५॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अर्थ :– ये महान् वीर तुझे बहुत मानते थे किंतु अब तुझे तुच्छ समझेंगे क्यों कि वे मानेंगे कि डर के कारणही तू युद्ध से भाग गया है ॥ ३५ ॥

हूं आणिक हो (येक)न विचारिमी। एथ संभ्रमें झुंजों आलासी।
आणि सकरुणत्वपणे निघालासी। मागौता जरी ॥२०६॥

अर्थ :– तुमने यह बात नहीं समझो कि तुम्हारे दया, की भावना को वे किस प्रकार सही मानेंगे ? तुम बड़े उत्साह के साथ युद्ध करने आये हो और अब निर्वैरता का विचार करके लौट जा रहे हो। कौन विश्वास करेगा ? ॥२०६॥

तरी तुझे तें अर्जुना। या वैरियां दुर्जनां।
कां प्रत्यया येईल मना। सांगे मज ॥२०७॥

अर्थ :– हे अर्जुन ! यह तुम्हारा बर्ताव तुम्हारे शत्रु, दुर्जन को झूठा ही लगेगा। उन्हें किस प्रकार विश्वास दिलाया जायेगा ? तुम्हारे इस बर्ताव का उनपर कुछ भी असर नहीं होनेका। वे इसे सरासर झूठ समझेंगे। केवल तुम्हारी अपनी वंचना होगी ॥२०७॥

अवाच्य वादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अर्थ :– तुम्हारे शत्रु तुम्हें अवाच्य (जो बोलने योग्य नहीं ऐसी) बातें करेंगे, तुम्हारी निंदा करेंगे, तुम्हारे सामर्थ्य की निंदा करेंगे। तिसपर और कष्टकारी क्या है ? ॥३६॥

हे म्हणती गेला रे गेला। अर्जुन आम्हां बिहाला।
हा सांगें बोल उरला। निका कायी ॥२०८॥

अर्थ :– वे कहते हैं, "अर्जुन हमसे डर के भाग गया।"

यह उनका परुष वचन क्या सच होगा ? ।।२०८।।

व्याख्या :- वे कहेंगे "अर्जुन डर गया। भाग गया। हमसे डरता है इसलिये भाग गया।" उन लोगों का यह कथन क्या सच होगा ? तुम यह कुछ भी नहीं सोचते ! तुम्हारी देह उनके लिए किस काम की ? तुम्हारी अपकीर्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है उनकी दृष्टि में। तुम्हारी कायरता के कारण उन्हें यह मौका मिला है। वे तुझे मार डालेंगे। वे बढचढाकर बातें करेंगे। तुम्हारी अपकीर्ति सुनाते जायेंगे। तुम जैसे सच्चे योध्दा के लिए यह सर्वथा हानिप्रद है। अनर्थावह है, अपमानास्पद है।

।। २०८ ।।

लोक सायासें करूनि बहुतें। (कां) वेंचितीं आपुलीं जीवितें।
परी वाढविती कीर्तितें। धनुर्धरा ।। २०९ ।।

अर्थ :- लोग प्रयत्नपूर्वक अपने जीवित को समर्पित करने को उत्सुक रहते हैं किंतु हे अर्जुन ! अपनी कीर्ति भी बढाना चाहते हैं ! ।।२०९।।

व्याख्या :- कीर्ति सम्पादन करने की तीव्र इच्छा अनेक लोगों के मनमें रहती है। वे प्रयत्न के साथ कीर्ति पाते भी हैं। कीर्ति के लिए वे सब कुछ न्योछावर करने को भी उत्सुक रहते हैं। अपनी देह की तनिक भी चिंता नहीं करते। उन्हें कीर्ति प्रिय है न कि देह ।।२०९।।

ते तुज अनायसें । अनकळिन जोडिलें असें ।
हें अद्वितीय जैसें । गगन आहे ।। २१० ।।

अर्थ :- वही यश, कीर्ति तुझे सहज ही प्राप्त है, जिस प्रकार यह अतुलनोय अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्म के समान) आकाश है ।।२१०।।

व्याख्या :- हे धनुर्धर ! देह की सफलता, श्रेष्ठता तो तुम्हें अपने आप, सहजही प्राप्त है । तुम्हें कीर्ति, यश सब कुछ है । उसके द्वारा तुम्हारा जीवन आजभी मानो सफल है । जिस प्रकार सर्वत्र चारों ओर आकाश सहजही व्याप्त है, सब को बिना किसी कष्ट के उपलब्ध है, उसी प्रकार तुम्हें अपनी कीर्ति, सुयश भी । यह सचमुच ही बडे भाग्य की बात है ।
।। २१० ।।

तैसी कीर्ति निःसीम । तुझ्या ठायीं निरूपम ।
तुझे गुण उत्तम । तिहीं लोकीं ।। २११ ।।

अर्थ : उसी प्रकार तेरे पास निःसोम निरूपम ऐसी कीर्ति है, त्रैलोक्य मे तेरे गुण उत्तम हैं ।।२११।।

व्याख्या :- तुम्हारी कीर्ति सचमुच अद्वितीय है । अपार शौर्य के कारण तुम्हारी राह देखी जाती है कीर्ति की ओर से । तुम्हारा जीवन सफल है और यश बाये हाथ का खेल है । सर्वव्यापक आकाश के समान तुम्हारी कीर्ति अद्वितीय रूपमें सर्वत्र फैली है । त्रिगुणों का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार मानो तुम्हारे

रूप में हुआ है। वे गुण सर्वोत्तम रूप में तुम्हारी कीर्ति को बढ़ा रहे हैं ।।२११।।

दिगंतींचे भूपति । भाट होऊनि वाखाणिती ।
जे ऐकलिया दचकती । कृतांतादिक ।।२१२।।

अर्थ :- देश विदेश के राजा तुम्हारी स्तुति भाट होकर करते हैं। वह सुनकर प्रत्यक्ष कृतान्त आदि भी डरते हैं।

व्याख्या :- तुम्हारी कीर्ति गानेवाले देशविदेश के महान् राजा सचमुच चारण बन गये हैं। तुम्हारे भाट हो चुके हैं। तुम्हारी कीर्ति सुनकर कृतान्त को भी डर पैदा होती है। राजा लोग समझते हैं कि "अर्जुन सचमुच महान् योद्धा है, वह क्षत्रियों का मानो जीवित है, क्षात्रतेज की मूर्ति है।" तुम्हारे क्षात्रतेज की दीप्ति की धधकती ज्वाला को देखकर उनका हृदय कांप उठता है ।।२१२।।

ऐसी महिमा घनवट । गंगा जैसी चोखट ।
जिया देखीं जगीं सुभट । व्हांठ जाहले ।।२१३।।

अर्थ :- ऐसी अपार महिमा देखी जाती है, जो गंगा के समान निर्मल है जिसे सुनकर जगत् में बडे बडे योद्धा चकित हो गये हैं।

— तुम्हारी निरूपम महिमा, उस की गहनता सचमुच गंगा के समान है। गंगा जैसी धवल, निर्मल कीर्ति है तुम्हारी! जो उसे देखते हैं, सचमुच स्तब्ध हो जाते हैं ।।२१३।।

ते पौरुष तुझें अदभुत । ऐकोनियां हे समस्त ।
जाले (असती) विरक्त । जीवितेंसी ।।२१४।।

अर्थ :- तुम्हारा अद्भुत पौरुष सुनकर ये सब अपने जीवित के बारे में उदासीन हो गये हैं ।।२१४।।

व्याख्या :- तुम्हारा पौरुष अद्भुत है। पराक्रम की गाथाएँ चारों ओरसे सुनी जाती हैं। जब ये तुम्हारे पराक्रम की, पौरुष की बातें सुनते हैं तब सचमुच अपने जीवित की उन्हें आशा नहीं रहती। युद्ध तो उन्हें करनाही पडेगा। युद्ध में हार या जीत होती है किंतु तुम्हारे पौरुष के कारण इस युद्ध में उनकी हार उन्हें स्पष्ट दिखाई देती हैं। क्षात्रधर्म को वे त्याग नहीं सकते इसी लिये तुमसे लडने को उत्सुक हैं। उन्हें न यश की आशा है न जीवन की।

किंतु तुमने खुद विरक्ति स्वीकार की है। अपनी कायरता स्पष्ट रूपसे दिखला रहे हो। अर्जुन जो वीरश्रेष्ठ है क्या कभी दया के कारण क्षात्रवृत्ति छोड सकता है? युद्ध से विन्मुख होकर करुणा की बातें कर सकता है? यह सर्वथा असंभव है, फिर भी तुम इस जाल में फँसे जा रहे हो। तुम्हारी यह करुणा उनकी दृष्टि में कायरता होगी। इससे केवल उन्हीं का लाभ हो सकेगा। उनकी कायरता छिपी रहेगी और वीरता न होनेपर भी तुम पर विजय पाने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ वीर साबित हो जायेंगे। शौर्य, धैर्य, वीर्य, तेज, पराक्रम आदि का प्रतीक है अर्जुन! किंतु अब उसकी हार देखकर उन्हें अनुपम

आनन्द होगा। क्या यह सब कुछ तुझे पसन्द है! वे तुम्हारी निंदा करेंगे हो किंतु तुम्हारे शौर्य की हीनता प्रकट करते जायेंगे। "कितनी बडा महत्ता, कितनी धीरता, कितनी महान् वीरता होकर भी अर्जुन डर गया!" यह उनका कहना तुम्हें कहाँ तक शोभा देगा? वे तो तुम्हारी मजाक उडायेंगे।

तुम्हारी विरक्ति उनकी वीरता का शृंगार है। उन्हें विजय ही विजय प्राप्त होगी। और विजय (अर्जुन!) यहाँ हार जायेगा। यह बिलकुल चमत्कार है। वे तुम्हारे शत्रु हैं, वे युद्ध करना चाहते हैं। अपने जीवित को तृणवत् समझकर केवल क्षत्रिय वृत्ति का तेज दिखाने को वे उत्सुक हैं। वे वीर-मरण चाहेंगे किंतु रण से विन्मुख नहीं होंगे। वे तुम्हारे अद्भुत पौरुष से डरते नहीं, वीरता से पीछे हटते नहीं, साथ ही तुम्हारी अनुचित दया का उदार अर्थ भी वे स्वीकार नहीं करते। वे केवल इस का तथ्य इतनाही समझेंगे कि अर्जुन डर गया है। वह पौरुष तथा पराक्रम की मूर्ति हमारे हाथ आयेगी। उसकी हार हमारी जय है, हमारी वीरता है। सबसे बडी श्रेष्ठता है। उन्हें सचमुच बडा आनन्द हो जायेगा। मरण को वरण करने को उत्सुक ऐसे ये वीर अब मरण को तृणतुल्य समझेंगे और तुम्हें मरण का स्वीकार करना पडेगा। तुम्हें अपने कर्तृत्वसे वे शरमायेंगे। अतः सोच विचार करके देखो। फिर से गौर करो। वीरवृत्ति को अपनाओ। दया को त्याग दो। क्षात्रधर्म का स्वीकार करो ॥२१४॥

जैसा सिंहाचिया हांका । युगांत होय मदमुखा ।
तैसा कौरवां अशेखा । धाक तुझा ।। २१५ ।।

अर्थ :- सिंह की गर्जना के कारण बड़े हाथी को भी युगांत सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सभी कौरवों को तुम्हारा आतंक है ।।२१५।।

व्याख्या :- तुम्हारी वीरता का आतंक सर्वत्र फैल चुका है । सब डरते हैं तुम्हारे युद्ध कौशल को देखकर । कौरवों को भी तुम्हारा आतंक है । वे अपने को जीवित समझते हैं, तुम्हारी दया के कारण । सिंह की गर्जना सुनते ही सभी प्राणी भयकंपित हो जाते हैं । बडे बडे हाथी तक, मृगेंद्र की केवल गर्जना के कारण लडखडाते हैं । हाथी समझने लगते हैं कि अब मृत्यु समीप है । उसका अभिमान, गर्व, प्रतिष्ठा कुछ भी नहीं रहता । जीवित की आशा छोडकर डर कर वह भागने लगता है । उन्हें यह आपत्ति युगान्त के समान अनुभव होती है । उसी प्रकार तुम्हारा शौर्य, तुम्हारा आवेश उन्हें भयभीत करता है । तुम्हारी वीरता सिंहरूप होकर गर्जना करती है, हाथी के गंडस्थल को भग्न करने की इच्छा करती है । उसका लक्ष्य वही है । किंतु तुम्हारी ओर देखकर अब कुछ निश्चित नहीं दीखता । तुम अपनी वीरता खो रहे हो । यह सचमुच ठीक नहीं ।।२१५।।

जैसे पर्वत वज्रातें । नातरी सर्प गरुडातें ।
तैसें अर्जुना हे तू तें । मानिती सदा ।।२१६।।

अर्थ :- जिस प्रकार पर्वत वज्र के बारेमें, या सर्प गरुड के बारे में भयग्रस्त रहता है, उसी प्रकार ये सभी, हे अर्जुन! तुम्हें मानते हैं ।। २१६ ।।

व्याख्या :- यद्यपि कौरव भयग्रस्त रहते हैं, फिर भी वे तुम्हारा सम्मान करते हैं। तुम्हारी शूरता का यह परिणाम है। तुम्हारी वीरता का आतंक है। तुम्हें उनकी ओरसे मान्यता प्राप्त है, बहुमान प्राप्त है। जब कभी तुम्हें उनके पास जाना पडता है, तो वे सादर उत्थापन देकर, तुम्हारी वीरता का शौर्य का परिचय दिलाते हैं। सर्प गरुड को महत्त्व-पूर्ण मानता है। वज्र के बारे में पर्वत भी डरता है। वज्र, गरुड दोनों पर्वत तथा सर्प को नमाते हैं, नम्र करते हैं। उनका अभिमान नष्ट करते हैं। उन के मनमें तुम्हारी शूरता के प्रति मत्सरयुक्त आदर है। वे शूरता चाहते हैं। तुम्हें नहीं चाहते। उनका मत्सर विरोधभक्ति का द्योतक है। तुम्हारे कर्तृत्व का उन्हें आदर है किंतु वे तुम्हारी भलाई क्यों कर चाहेंगे? वे तुम्हारी शूरता अपनाना चाहते हैं। इसी ओर वे ध्यान देते हैं। वे उत्कंठित हैं उसी प्रकार की वीरता दिखाने को। शौर्य का प्रभाव दिखाने को। जिससे वे भी अर्जुन के समान बडे प्रतापी समझे जायेंगे ।।२१६।।

तें अगाधपण जाईल। मग हीनत्व अंगा येईल।
जरी माघौता निघसील। न झुंजता ।।२१७।।

अर्थ :- फिर तुम्हारे युद्ध न करते हुए वापस जानेसे, तुम्हारी महत्ता नहीं रहेगी। तुम्हारी अप्रतिष्ठा होगी ।।२१७।।

व्याख्या :- अपने स्वधर्म के अनुसार कर्तव्य कर्म करते रहने से बडप्पन प्राप्त हुआ। क्षात्रधर्म के लिए वीरता महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य है। वीरता का चरम आदर्श तुम्हारे रूपमें है। तुम्हारा यह कर्तृत्व निःसंशय अथाह है। इसी कारण तुम्हें महत्ता प्राप्त है। अर्जुन की श्रेष्ठता वीरता में है, न कि करुणा की उदारता में। करुणा के कारण तुम अब धर्मभ्रष्ट होना चाहते हो। स्वधर्म के त्याग को उत्सुक हो। किंतु इससे लाभ की बात ही छोडो, केवल हानि है, और कुछ नहीं। तुम्हारे स्वभाव की गहराई वीरता को ही पनपती रहेगी। जब वीरता को छोडकर अनुचित करुणा से आर्द्र होकर तुम युद्ध छोड कर लौटेंगे, तो सभी तुम्हें दुर्बल, अन्य-मनस्क ही समझेंगे। जो तुम्हें अब तक समादृत करते थे वे हीन समझने लगेंगे। अपने स्वभाव को, स्वधर्म को त्याग कर कोई भी बडा नहीं हो सकता, बडा बडा नहीं रह सकता। उसकी महत्ता निःसंशय कम होती जायेगी ।।२१७।।

आणि हे पळतां पळों नेदिती। धरुनि अवकळा करिती।
न गणित कुटी बोलती। आइकवां तुज ।।२१८।।

अर्थ:- और ये सभी तुम्हें भागनेपर भी भागने नहीं देंगे। तुम्हें पकडकर अप्रतिष्ठा करना चाहेंगे। बार बार निंदा करेंगे। अतः तुम्हारा कहना स्वीकार करने की अपेक्षा।

।। २१८ ।।

व्याख्या :- अपना पौरुष त्याग कर, अनुचित ऐसी अकर्म-

ण्यता स्वीकार करके तुम अपने को गौणत्व दे रहे हो। इससे तुम्हारा पराक्रम अब नष्ट होता जा रहा है और ये इस बात का लाभ उठाने पर लालायित हैं। तुम्हारा संपूर्ण कथन एक प्रकार की आत्मनिंदा है, अपौरुषत्व का प्रदर्शन है। इसके द्वारा तुम्हें गौणत्व प्राप्त हो रहा है। अपनी गुणसंपन्नता त्याग कर गुणहीन होने में, **कर्तव्यच्युत** होने में दूसरों द्वारा निंदा होना अपरिहार्य है। तुम्हारी अहन्ता, अभिमान, करुणा तथा अन्य बातें अब सारहीन प्रतीत होती हैं। तुम्हारी करुणा वीरता के सामर्थ्य का अभाव रूपमें प्रतीत होती है। यह सरासर स्त्रैणता है। मनुष्यता का पुरुषार्थ तुम त्याग रहे हो, फिर क्या पाओगे! केवल निंदा ही निंदा। केवल निंदा से पिंड छूटनेवाला नहीं। तुम जाना चाहोगे किन्तु वे भला जाने देंगे? तुम्हें पकडने पर उन्हें पुरुषार्थ प्राप्त होगा। अतः तुम्हें पकडने की कोशिश में वे लगे रहेंगे। तुम्हें पकडना इसका अर्थ है कि पुरुषार्थ अधीन करना। तुम्हारी निर्बलता जगत को दिखानी है उन्हें। अप्रतिष्ठायुक्त जीवन जीनेका लोभ क्यों कर? उनके द्वारा की जानेवाली निंदा, तुम्हारी निर्बलता, असमय करुणा आदि से उनका प्रत्येक शब्द पंचशूल की भांति तुम्हारे हृदय को चुभता रहेगा। वह टीस असह्य होगी। जीवन अपमानास्पद रहेगा। कोई भी तुझे भला नहीं कहेगा। पुरुषार्थहीन क्षत्रियत्व निःसंशय व्यर्थ है। बार बार अपमानित होकर, पराजित सी मनोवृत्ति को लेकर निष्क्रिय बैठे रहने से तुम न अपना हित करोगे, न और किसीका। धर्म त्याग मृत्यु ही है। उस में यश की हानि है, जीवन की हानि है। यह महाब

दोष है क्यों कि इसमें स्वधर्म के साथ अपने पुरुषार्थ का नाश है। निन्दा भलों के द्वारा होने से हालत और भी बिगड जाती है। निष्ठा नही, श्रद्धा नहीं, धर्म नहीं, कीर्ति नहीं, जय नहीं, पौरुष नहीं, तेज नहीं फिर जीवन में तुम्हें क्या प्राप्त होगा? यह तेजोहीन जीवन कर्तव्यच्युति का फल होगा। धर्महीन निर्भय नहीं हो सकता। पौरुषहीन के पास पराक्रम नही होता। तेजोहीन की स्तुति नहीं की जाती। यह तुम्हारे अश्रद्ध जीवन की विवशता है। इसमें बुराई के सिवा और कुछ नहीं। ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा मौत अच्छी!

॥ २१८ ॥

मग ते वेळीं हियें फुटावें। आतां लाठेपणें कां न झुंजावें।
हें जिंतिलें तरी भोगावें। पृथ्वीतळ ॥ २१९ ॥

अर्थ :– (इस प्रकार निंदा सुनते समय) तब हृदय विदीर्ण होता जायेगा। फिर अब शौर्य से युद्ध क्यों न किया जाय? यह जीतनेपर इस पृथ्वी का राज्यभोग प्राप्त होगा।।२१९।।

व्याख्या :– उनके द्वारा की जानेवाली निंदा कदापि सुनने योग्य नहीं होगी। वे सर्वथा मत्सर करते रहे हैं। बुराई के सिवा वे और क्या देखेंगे? युद्ध छोडकर चले जानेवाले अर्जुन की निंदा करना, उसकी कायरता का भरसक मजाक उडाना उन्हें पसन्द आयेगा। उनकी बुरी बातें सुनते समय तुम्हारा हृदय विदीर्ण होता जायेगा। तुम्हारे सच्चे पौरुष से यह कदापि सहा नहीं जायेगा। उस समय तुम्हारा हृदग सचमुच

तिलमिला उठेगा। वह दुःख मरणप्राय है और उससे बचने का एकही उपाय है कि अभी प्रसंगोचित युद्ध मे जूझते रहना। इसी में तुम्हारा पौरुष जगमगायेगा। आत्मवंचना नहीं होगी। स्वधर्म की रक्षा होगी। युद्ध में होनेवाली क्षति गौरव की बात है। वहाँ आहत होना सन्मान है। युद्ध में जूझते रहने से विजय प्राप्त होगी। अपने स्वभाव की सफलता, स्वधर्म की फल प्राप्ति है वह। तुम्हारे अद्वितीय पुरुषार्थ का प्रभाव है कि यहाँ तुम्हारी जय होगी। फिर इस महीतल का स्वामी तुम होंगे। राज्यभोग प्राप्त होगा और स्वधर्म पालन भी ।।२१९।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। ३७ ।।

अर्थ :– हे कौंतेय, युद्ध में यदि तुम्हारी मृत्यु हो जायगी तो तुम स्वर्ग जाओगे, अगर तुम्हारी जय होगी तो इस धरातल का राज्य भोग प्राप्त होगा। अतः निश्चय के साथ युद्ध करने को तैयार हो जाओ ।। ३७ ।।

नातरी रणीं येथें। जुंझता वेचिलें जीवितें।
तरी स्वर्गसुख अनकळितें। पावसील ।।२२०।।

अर्थ :– अगर यहाँ युद्ध में जूझते समय मृत्यु आयेगी, तो भी तुम्हें सहज उपद्रवरहित स्वर्गसुख प्राप्त होगा ।।२२०।।

व्याख्या :– हे कौंतेय, तुम अपने स्वभाव को पहचानो। स्वाभाविकता की ओर ध्यान दो। तुम्हें जो स्वभाव से ही

उचित कर्म है उसे अपनाओ। अस्वाभाविक उदारता में अपने जीवित के यश को कलंकित मत करो। यह तुम्हारा अनवधान है, तुम्हारी अनुचित उदासीनता है। तुम आप्तों के मोह में फँस कर करुणा, दया तथा आस्था की बातें कर रहे हो। तुम्हें आवश्यक है कि अपनी मनुष्यता को पहचानना। तुम्हारा पुरुषत्व, स्वभाव जो नियति के द्वारा निश्चित है, जो सर्वथा क्षात्रतेज से युक्त है, जो स्वधर्म से ही वीरता को पोषक है, उसे न पहचानते हुए युद्ध से विन्मुख होकर केवल अयश ही हाथ में रहेगा। अतः यह मूर्खता छोडकर, स्वाभाविक पौरुष तथा बल के आधार पर युद्ध करते हुए क्षत्रियोचित कठोरता का परिचय दिला दो। संभव है कि यहाँ मृत्यु भी गले पडेगी। किंतु वह वीरमृत्यु वीरगति प्राप्त करायेगी।

इस प्रकार मौन प्राप्त होनेपर भी कुछ अनिष्ट नहीं। इससे स्वर्गसुख की प्राप्ति होगी। उस सुख में उपद्रव नहीं, विरोध नहीं। स्वधर्म से प्राप्त वह दिव्य भोग सचमुच निष्कलंक होगा। वह महासुख तुम्हें अभूतपूर्व रूप में प्राप्त होगा।

॥ २२० ॥

म्हणोनि इयें गोठी। विचार न करी किरीटी।
आता धनुष्य घेऊन उठी। जंझ वेगीं ॥२२१॥

अर्थ :– अतः हे अर्जुन ! इस बात के बारे में विचार मत करो। अब धनुष्य हाथ में लेकर युद्ध करने को जल्दी तैयार हो जाओ ॥२२१॥

व्याख्या :— अतः अब ये बेकार की बातें बन्द कर दो। हाथ में धनुष्य लेकर युद्ध करने को तैयार हो जाओ। सभी प्रकार से विचार किया गया है और युद्ध ही श्रेय है। कर्तव्य है। अतः हे अर्जुन ! ये बातें करना छोड दो। युद्ध करने का निश्चय करो ।। २२१ ।।

देखें स्वधर्म (हा) आचरितां। दोष नाशे असतां।
तुज भ्रांति हे कवण चित्ता। (येथे) पातकाची ।।२२२।।

अर्थ :— यह समझ लो कि अगर कुछ दोष हो तो भी वह स्वधर्म के अनुष्ठान के कारण रह नहीं सकता। फिर यहाँ पापों की चिंता तुम्हें, तुम्हारे मन को क्यों कर है ? ।।२२२।।

व्याख्या :— स्वधर्म का अनुष्ठान पाप को रहने नहीं देता। अगर किसी कारण पाप हुआ हो, या आचरण में दोष हो तो भी स्वधर्म उनसे रक्षा करने में समर्थ है। पाप के बारे में तुम्हारी धारणा अन्यथा है। उसे किसी भी प्रकार अर्थ नहीं। वह तुम्हारी अपनी भ्रांति है। यहाँ पाप होनेका डर है ही नहीं। अतः चित्त को स्थिर करो। भ्रांत मत हो जाओ। स्थिर-चित्त होकर स्वधर्म के अनुष्ठान में लगे रहो। फिर वहाँ पाप है कहाँ ? ।।२२२।।

सांगे प्लवेंचि काय बुडिजे। कां मार्गी जातां अडखळिजे।
परी विपायें चालों नेणिजे। तरी तेंहि घडे ।।२२३।।

अर्थ :— क्या नौका कभी किसी को डुबायेगी ? रास्ते से

जाते समय क्या कभी लडखडाया जायेगा ? किंतु चलनाही ज्ञात न हो तो बात और है ! वैसा भी हो सकेगा ।।२२३।।

व्याख्या :– तुम अपने स्वधर्म का अनुसरण करो। निष्काम होकर उसे अपनाओ । फिर किसी भी प्रकार की बाधा संभव नहीं । यह धर्म सचमुच नौका के समान है । नौका पार उतारने का साधन है न कि डुबाने का। उसी तरह धर्म रक्षा करने के लिये है । उसके अनुशासन में पाप कैसा ? जो सन्मार्ग से जाता है उसे रास्ते की कौन कठिनाई है ? वहाँ रोडे कहाँ होंगे ? अच्छा रास्ता स्वयं दीप होता है। बाधा नहीं आने देता । वहाँ कौन लडखडायेगा ? हमें दृढता के साथ चरण बढाने होंगे । और कोई चलना नहीं जानता तो गलती उसकी है, रास्ते की नहीं ।।२२३।।

अमृतें तरीचि मरिजे । जरी विषसीं सेविजे ।
तैसा स्वधर्मी दोष पाविजे । हेतुकपणें ।।२२४।।

अर्थ :– क्या कभी अमृत से मृत्यु प्राप्त होगी ? वह तभी संभव है जब कि उसका सेवन विष के साथ किया गया हो । स्वधर्म से पाप तभी संभव है कि सकाम होकर उसका जब अनुष्ठान किया जाता है ।।२२४।।

व्याख्या :– जब अमृत का प्राशन हेतुपुर:सर विष के साथ हो तो मौत निश्चित है । यहाँ अमृत से मौत नहीं, विष से है । उसी प्रकार स्वधर्म कभी पाप नहीं दे सकता । पाप

केवल सकाम होने से संभव है। निष्काम कर्म सर्वथा विशुद्ध तथा पापरहित है। फलाशा, सकामता ही यहाँ दोषास्पद है। स्वधर्म हरेक के लिए सद्धर्म है। उसका प्रभाव पाप को नष्ट करेगा। जब साकांक्ष अनुष्ठान होता है तब भ्रांति है, पाप है, अश्रद्धा भी। वही दोषास्पद है ॥२२४॥

म्हणौनि (तुज) पार्था। हेतु सांडूनि सर्वथा।
(तुज) क्षात्रवृत्ति जुंझता। पाप नाहीं ॥२२५॥

अर्थ :- अतः हेतु को त्याग कर (निर्हेतुकतासे) क्षात्रवृत्ति से युद्ध करने पर किसी भी प्रकार पाप नहीं ॥२२५॥

व्याख्या :- यश या अपयश का विचार छोडकर, निष्काम हो जाओ। स्वधर्म से हानि कभी नहीं हो सकती। तुम्हारी आशा, आकांक्षा ही वहाँ दोषास्पद होगी। तुम्हारे लिए क्षात्रधर्म स्वधर्म है। वही श्रेष्ठ है। वह क्या तुम्हें पाप प्रदान करेगा? धर्म को ध्यान में रखकर निष्काम होकर अपने कर्तव्यकर्म रूप युद्ध को स्वाभाविक रूपमें स्वीकार करो। उसमें तुम्हारा कल्याण है, वहाँ पाप नहीं ॥२२५॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अर्थ :- सुख तथा दुःख को समान रूप समझकर, तथा लाभ और हानि को या जय और पराजय को महत्त्व न देते

हुए, इस युद्ध में लडने को तैयार हो जाओ। इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ।। ३८ ।।

सुखीं संतोषा न यावें। दु:खीं विषादा न भजावें।
आणि लाभलाभ न धरावें। मनामाजी ।।२२६।।

अर्थ :- सुख प्राप्त होनेपर भी विशेष सन्तुष्ट मत हो जाओ। दु:ख प्राप्त होने पर भी विषाद मत करो। मन में किसी भी प्रकार लाभ तथा हानि को महत्त्व मत दो ।।२२६।।

व्याख्या :- क्षात्रधर्म का तेज वस्तुत: आत्मतेज से ही प्रभावित है। ब्रह्मतेज नि:संशय प्रभावकारी होता है। क्षात्रतेज के कारण प्राप्त विजय के द्वारा सुखासीन हो जाना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वह सुख ऊपरी है। उस में अतृप्ति बनी रहती है। आत्मतृप्त आदमी को किसी विजय का सुख विशेष रूप से नहीं भायेगा। इस प्रकार सुख से सुखी हो जाना और दु:खसे उद्विग्न होना एक प्रकार की बालबुद्धि है। बालकों में भी यह देखा जाता है कि किसी खेलमें वे इतने तल्लीन हुआ करते हैं कि जिससे कभी कभी उनमें झगडा तक शुरु रहता है। वे अपनी खेल में प्राप्त जय पर हँसते कूदते हैं, आनन्द मनाते हैं, हार हो जायेगी तब झगडते हैं, चिढते हैं। उसी प्रकार यह जीवन भी भगवान की लीला मात्र है यह समझकर उसमें हमें सुख से सुखी तथा दु:ख से उद्विग्न होना शोभा नहीं देता। यहाँ का सुख लेशमात्र है और दु:ख भी उसी

प्रकार का। चित्त की समता बनाये रखना ही महत्त्वपूर्ण बात है ।। २२६ ।।

एथ विजयपण होईल। कीं सर्वथा देह जाईल।
हें आधींची काहीं पुढील। चिंतावें ना ।।२२७।।

अर्थ :– इस युद्ध में विजय प्राप्त होगी या नहीं, क्या अपनी देह का त्याग करना पडेगा? इन बातों का अभी से ही विचार करना छोड दो।

– बात यह है कि होनहार के बारे में चिंता करने से क्या लाभ? इस संसार में हार तथा जीत दोनों भी महत्त्वपूर्ण नहीं। संसार को ही पार करना महत्त्वपूर्ण है। वहाँ कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है इसी पर खाली विचार करते रहने से लाभ नहीं। अत: यह विचार करना छोड दो।।२२७।।

(आतां) आपणयां उचिता। स्वधर्मं राहाटतां।
जें पावे तें निवांता। साहोनि जावें ।।२२८।।

अर्थ :– अतः अपने योग्य जो स्वधर्म है, उसका ही आचरण करते रहो। और जो कुछ प्राप्त होगा, उस को सहते जाओ।

– मतलब स्पष्ट है कि स्वधर्मोचित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा जो भी कुछ यश, अपयश, लाभ हानि आदि प्राप्त होंगे उन्हें स्थिर बुद्धि से स्वीकार करना योग्य है।।२२८।।

ऐसिया मनें होआवें। तरि दोष न घडे स्वभावें।
म्हणउनि आतां जुंझावें। निभ्रांत तुवां ॥२२९॥

अर्थ :- अतः इस प्रकार स्थिर मनसे कर्म करने से किसी भी प्रकार दोष प्राप्त नहीं होगा। इसलिये सन्देहरहित होकर तुम युद्ध करो।

- अपने मन को स्थिर करो, दृढ करो। उसे विकारवश मत होने दो। फिर किया गया धर्माचरण दोषास्पद नहीं हो सकता। वह युद्ध भी कल्याणप्रद होगा ॥२२९॥

॥ पूर्वार्धं संपूर्ण ॥